संघर्षमय जीवन

(श्री जगदीश प्रसाद मण्डल के मैथिली उपन्यास ‘जीवन संघर्ष’ का हिंदी अनुवाद)

जीवन संघर्ष

मैथिली उपन्यास

जगदीश प्रसाद मण्डल

संघर्षमय जीवन

हिंदी अनुवाद

धीरेन्द्र कुमार

संघर्षमय जीवन

जगदीश प्रसाद मण्डल

हिंदी अनुवाद

धीरेन्द्र कुमार

पल्लवी प्रकाशन
बेरमा/निर्मली

SANGHARSHMAY JEEVAN

Hindi Translation of the Maithili Novel 'Jeevan-Sangharsh'

Original Author: Shri Jagdish Prasad Mandal

Hindi Translation: Dhirendra Kumar

ISBN: 978-93-48865-56-4

दाम: 390/- (भा.रु.)

स्वत्वाधिकार: © प्रकाशक

प्रथम संस्करण: 2025

प्रकाशक: पल्लवी प्रकाशन

तुलसी भवन, नेहरू मार्ग, वार्ड नं.: 06, निर्मली

जिला- सुपौल, बिहार: 847452

मुद्रक: पल्लवी प्रकाशन (मानव आर्ट)

वेबसाइट: http://pallavipublication.blogspot.com

ई-मेल: pallavi.publication.nirmali@gmail.com

मोबाइल: +91 62006 35563; +91 99316 54742

फोण्ट सोर्स: https://fonts.google.com/,

https://github.com/virtualvinodh/aksharamukha-fonts

आवरण चित्र: सुश्री तुलसी कुमारी

अक्षर संयोजन: डॉ. उमेश मण्डल

इस पुस्तक का सर्वाधिकार सुरक्षित है। स्वत्वाधिकारी के लिखित अनुमति के बिना पुस्तक की किसी अंश की छाया प्रति एवम् रिकॉर्डिंग सहित इलेक्ट्रॉनिक अथवा यँात्रिक, किसी माध्यम से या ज्ञान के संग्रहण व पुनर्प्रयोग प्रणाली द्वारा किसी भी रूप में पुनरुत्पादित अथवा संचारित-प्रसारित नहीं किया जा सकता है।

समर्पण

मिथिला के वृंदावन से लेकर बालू के टीले पर बैठा फुलवारी
लगानेवाला नव प्रभात के पुकारनेवाले
के साथ।

एक

कार्तिक की अमावस्या। धूप ऐसी मानो जेठ की तपिश उतर आई हो, ऊपर से उमस, घुटन ऐसी कि मानो जान निकल जाए। जैसे किसी ने स्नानकर भींगते बदन पर पानी डाल दिया हो, वैसे ही पसीना शरीर पर बहता जा रहा था। दस बजे के बाद तो खेतों और बागों की ओर नज़र उठाना मुश्किल हो गया, इतनी तीखी धूप! लेकिन घर में भी चैन कहाँ! सिर से बहता पसीना नाक पर आकर टप-टप टपक रहा था, कपड़े से गंध उठ रही थी, सबका मन उखड़ा-उखड़ा!

आठवें दिन दीपावली का पर्व था, उस पर पूरे गाँव ने मिलकर काली-पूजा करने का संकल्प लिया था। दोनों पर्व एक ही दिन, अमावस्या को पड़ने वाले थे। वैसे तो परंपरा से दीपावली हमेशा एक ही दिन की होती आई है, लेकिन काली-पूजा को भव्यता से मनाने के विचार के कारण पाँचों दिन दीप जलाने का निर्णय लिया गया। आठवें दिन जब मुख्य त्योहार होना था, तो उसके पहले सात दिनों से ही घर और आँगन की सफाई, गोबर और कचरे के ढेर हटाना, दरवाज़े-दरवाज़े, रास्ते-रास्ते झाड़ू-पोंछा लगाना शुरू हो गया था। इतना ही नहीं, दूसरे गाँवों से आने वाले रास्तों की मरम्मत का जिम्मा भी खुद ही उठाना पड़ा। अच्छा ये रहा कि धूप तेज होने के कारण खेतों में कोई काम नहीं था, वरना सबका काम बिगड़ जाता।

गाँव में काली-पूजा का इतना बड़ा आयोजन पहली बार हो रहा था, इसलिए काम की अधिकता स्वाभाविक थी। लेकिन लोगों में उत्साह इतना था कि भारी बोझ भी हल्का लग रहा था। घर के सारे काम स्त्रियों के कंधे पर आ गए थे, फिर भी मुँह से कोई शिकायत नहीं। कारण यह भी था कि धान की खेती ने गाँव के किसानों को बाँट दिया था। खेतों की बनावट भी ऐसी थी कि कुछ खेत ऊँचे, कुछ मध्यम ऊँचाई के, कुछ निचले और कुछ अधिक निचले थे, जिससे बारिश और धूप का एकसमान प्रभाव नहीं पड़ता था, और उपज भी उसी अनुसार

बदलती थी। जिनके खेत ऊँचे थे, उनके लिए गर्मा धान की खेती व्यर्थ थी; जबकि जिनके खेत निचले थे, जहाँ बरसात से अगहन-पूस तक पानी ठहरता था, उनके लिए वही खेती फायदेमंद थी। इस अंतर ने किसानों के बीच वैचारिक दूरी भी बना दी थी। अभी भी कुछ लोग गर्मा धान को अपवित्र मानते हैं, और कम पैदावार को भी खुशी-खुशी सह लेते हैं।

अब तक बाँसपुरा गाँव में न तो कोई हवन-यज्ञ हुआ था और न कोई बड़ा उत्सव। इसी वजह से पास-पड़ोस के लोग बाँसपुरा वालों को 'अधरमी' समझते थे। हालांकि, यह गाँव मेहनती किसानों और मेहनतकश लोगों का है। गाँव में न कोई कंपनी का एजेंट है, न चोर-डकैत और न ही कोई ठग। फिर भी क्या बाँसपुरा के लोग धर्म नहीं निभाते? बख़ूबी निभाते हैं। हर साल महावीर जी के स्थान पर रामनवमी के दिन अष्टयाम होता है। चाहे समय अच्छा हो या बुरा, उत्सव में कोई रुकावट नहीं आती, भले ही पान न हो, तो पान के डंठल से काम चला लिया जाता है। इसके अलावा, अलग-अलग मौकों पर भंडारे, अगहन में जनार, आसीन महीने में सलहेस की पूजा आदि होती रहती हैं।

तेज़ धूप सबके मन को जलाए दे रही थी, लेकिन फिर भी अंदर से नई उमंग जग रही थी। सुबह से लेकर रात के खाने तक हर कोई पूजा की किसी न किसी तैयारी में व्यस्त रहता, या तो कुछ बनाता, या फिर उसमें लगने वाली चीजों की योजना बनाता। दीवारों पर पूजा के स्थान की तैयारियाँ भी जोरों पर थीं। वहाँ रोज़ शाम को पूरा आँगन चिकनी मिट्टी से लीपा जाता, और गाँव की बहुएँ व बेटियाँ मिलकर कम-से-कम पाँच विनती तो गाती ही थीं। कन्या भोजन तो मुख्य दिन होना था, लेकिन अगरबत्तियों की ख़ुशबू और धूप के धुएँ से पूरा माहौल ही आध्यात्मिक हो उठता।

क्यों न हो! पहली बार गाँव में पाँच दिनों तक मेला लगने वाला था। रंग-बिरंगी दुकानों में तरह-तरह की चीज़ें बिकने वाली थीं, और हर कोई अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार कुछ न कुछ खरीदने वाला था।

लोगों में मेला देखने की ललक इतनी बढ़ गई थी कि उन्हें अब न कोई और काम अच्छा लग रहा था, न ही कोई और बात। घर की पूरी जिम्मेदारी और

बोझ स्त्रियों पर आ पड़ा था। इसी बीच अचानक एक चिंता और पनप गई, चर्चाओं और अफवाहों की बाढ़ आ गई। सुनने वालों की भी कोई कमी नहीं थी, बुज़ुर्गों से लेकर बच्चे तक। बातें भी रंग-बिरंगी, कोई काली माँ के समय को नए युग की गति समझकर बोलता, तो कोई महादेव के सीने पर पाँव रखने जैसी बातें करने लगता। जैसे किसान वसंत पंचमी के दिन अपने परती खेत जोतते हैं, वैसे ही सब कालिका की चर्चा करने लगे।

दीपावली अब तक एक ही दिन का पर्व रहा है। साथ में गोवर्धन पूजा, भाई दूज और दवात की पूजा भी होती रही है। अब जब पाँच दिन की काली-पूजा का मेला लगेगा, तो पूरा गाँव जैसे गहमा-गहमी में डूब जाएगा। बिना ब्लीचिंग पाउडर के तो पेशाब की बदबू भी दूर नहीं होगी! दोहरी पूजा का मतलब जहाँ एक ओर खुशी, वहीं दूसरी ओर भारी काम का बोझ। दस-बारह दिनों तक लगातार मेहनत आसान नहीं। कौन बीमार पड़ जाएगा, किसे पेट की गड़बड़ी हो जाएगी, इसका क्या ठिकाना! ऊपर से बच्चे जिद करेंगे, खाने-पीने में नखरे करेंगे। उन्हें कौन रोकेगा? और फिर रातभर नाच-गाने के तमाशे भी देखे जाएँगे। जो सोचते हैं, उनके मन में चिंता बढ़ती जाती है। और यही नहीं, मन में एक के बाद एक और चिंताएँ उमड़ती चली जाती हैं..।

एक तो पहले से ही दिल्ली–कलकत्ता में रह रहे भाई–बहनों के लिए भाईदूज का पर्व फीका पड़ गया है, ऊपर से गाँव का मेला! अगर पूजा का निमंत्रण भी मिल जाए, तो कौन ऐसा अभागा होगा जो लक्ष्मी पूजा छोड़कर गाँव लौटेगा? चाहे उनके पूर्वज उलाहना ही दें, लेकिन छायादार पेड़ की छांव में दो बूंद पानी तो स्त्रियाँ ही रखती हैं। फिर पुरुष क्या ही करेंगे? ऐसे पर्व को छोड़ देना कितना उचित होगा?

गाँव का मेला सबके मन को झोंके की तरह उड़ाए ले जा रहा था। इसलिए कोई भी सही–गलत पर ध्यान नहीं दे रहा था। जैसे कार्तिक की ज़रैया (वातजनित) बुखार और पेट की बीमारी को कोई देखने वाला नहीं था, वैसे ही कोई किसी ओर नज़र नहीं डालता। सब जैसे पागल हो गए थे! सब उन्मत्त! जैसे फागुन में भांग पीकर पूरा गाँव नाचने लगता है, वैसे ही हर कोई, चाहे वह घर में

हो या गाँव में, किसी न किसी काम की धुन में नाच रहा था। जैसे घर की ओट में जमा पानी बहते–बहते आंगन पार कर पोखर तक पहुँच जाता है, वैसे ही व्यक्ति व्यक्तिगत सीमाएँ लांघकर समाज में घुलते जा रहे थे।

गाँव में काली–पूजा क्यों होगी? जो इतने वर्षों से नहीं हुई, वह इस वर्ष से क्यों शुरू होगी? फिजूल खर्ची का यह बोझ गाँववाले अपने गले में हार की तरह क्यों डालने को तैयार हो गए हैं? इसका कारण यह था कि बाँसपुरा से एक कोस दूर बसे सिसौनी गाँव में पच्चीस वर्षों से भी अधिक समय से दुर्गा–पूजा होती आई है। चार कोस दूर तक के लोग दुर्गा–पूजा देखने सिसौनी जाते हैं। न सिर्फ पुरुष, बल्कि अन्य गाँवों की स्त्रियाँ भी सिसौनी की दुर्गास्थली में संध्या दीप जलाने जाती हैं। वहाँ कुमारी भोजन भी कराया जाता है, बलि स्वरूप बकरे भी चढ़ाए जाते हैं।

बलिदान के मामले में सिसौनी की बराबरी का दूसरा गाँव जिले में नहीं है। दुर्गा–पूजा शुरू होने के एक महीने पहले से ही बकरों को पालने का सिलसिला शुरू हो जाता है। उस पर एक जैसे रंग वाले बकरों की मांग बहुत अधिक हो जाती है। इतना ही नहीं, वेदपाठ करनेवाले भी अभ्यास में जुट जाते हैं। सिसौनी गाँव दुर्गा–पूजा के समय परीक्षा–स्थल बन जाता है। जो जितनी बार सम्पुट पाठ करता है, वही फ़र्स्ट डिवीज़न में उत्तीर्ण घोषित होता है। आमदनी अच्छी और डिप्लोमा बड़ी! हालाँकि अभ्यास जितना भी कोई करे, परन्तु शंठे पंडित ही टॉपर होते हैं, यह सबका बीस साल का अनुभव है। हद यह कि उनकी वाणी वैसे भी तेज़ है, ऊपर से इतनी गति से बोलते हैं कि चौपाई की शुरुआत और अंत के शब्द भी ठीक से सुनाई नहीं देते। फिर भी, जो भी हो, उन्होंने मेहनत से ही यह स्थान पाया है, कोई प्रमाणपत्र खरीदा नहीं।

इस बार सिसौनी की दुर्गा–स्थान पर एक घटना घटित हुई। बाँसपुरा की एक अठारह–बीस वर्ष की लड़की, जिसका विवाह पिछले वर्ष हुआ था और जो मात्र तीन महीने ससुराल में रह पाई थी, उसे पूजा–समिति के तीन लोगों ने फुसलाकर भंडार–घर में ले जाया गया। मेला अपने चरम पर था। नाच–तमाशे के लाउडस्पीकर ने चार कोस तक की नींद उड़ा दी थी। उन्हीं तीनों ने उस लड़की

के साथ दुष्कर्म किया। लाचार होकर वह सब कुछ सह गई। भोर के चार बजे वे उसे छोड़कर चले गए। मेला भर उसने कुछ नहीं कहा। मुँह–कान ढँककर मेला स्थल से सीधे गाँव की ओर चल पड़ी।

गाँव की सीमा पर पहुँचते ही उसका कलेजा फट पड़ा। छाती फटने के साथ ही हिचकियाँ और रुदन शुरू हो गया..।

भोर की उस रुलाई को सुनकर गाँव के दो–चार लोग घर–आँगन से निकलकर रास्ते पर आकर देखने लगे। टोले में प्रवेश करते ही लोग पूछने लगे। वह अपने साथ घटी घटना को सुनाना चाहती थी, लेकिन बोल ही नहीं पा रही थी।

बेटी को रोते हुए देखकर, बिना कुछ पूछे उसकी माँ ने छाती पीट–पीट कर, दोनों हाथ फैलाकर पूछा- "क्या हुआ, हम तेरी माँ हैं, मुझे नहीं बताएगी तो किसे बताएगी?"

जैसे–जैसे माँ उसकी बात सुनती जा रही थी, वैसे–वैसे उसका तन क्रोध से तपने लगा। सुनते–सुनते उसने चीखकर अपने पति से कहा- "जैसे हमारी बेटी की इज्ज़त सिसौनीवालों ने लूटी है, वैसे ही सिसौनी की दुर्गास्थली पर आज इंसान की बलि पड़ेगी!"

इतना कहकर उसने घर में रखा धारदार फरसा निकाला, साड़ी समेट कर कमर में बाँधा और सिसौनीवालों को गालियाँ देती हुई चल पड़ी। पत्नी का यह उग्र रूप देखकर पति ने भी कमर में गमछा बाँधा, हाथ में लाठी ली और गालियाँ बकता हुआ पीछे–पीछे चला। पत्नी बेकाबू होकर गालियाँ देते हुए चीख रही थी, देवी–दुर्गा को भी कोस रही थी। जितना–जितना आगे बढ़ती, उतना–उतना उसका क्रोध चढ़ता जा रहा था।

उधर, यह ख़बर आग की तरह गाँव में फैल गई। सबसे पहले सातों दियाद (परिवार) के पुरुष, स्त्रियाँ और बच्चे जिसको जहाँ से मिलते, वही साथ लेकर सिसौनी की राह पर चल पड़ते। इन दियादों को आगे बढ़ते देखकर टोले और जाति के लोग भी साथ हो लिए। पूरा गाँव जैसे उबल पड़ा। जिसे जो सूझता, वह वही बोलता, जोर–जोर से, और सिसौनी की ओर चल पड़ता।

समझदार लोग घबरा उठे कि अब दोनों गाँवों के बीच खून–खराबा होकर रहेगा। कोई इसे रोक नहीं सकेगा। फिर भी इस आग को रोकने की कोशिश में कुछ लोग आगे बढ़े और रास्ता रोक लिया। चार–चार लोगों ने मिलकर कुसुमलाल और उसकी पत्नी, यानी लड़की के माँ–बाप को पकड़कर रोका। कुसुमलाल तो ठिठक गए, लेकिन पवित्री मानने को तैयार नहीं थी। चारों लोगों के हाथ झटकते हुए वह चिल्लाई- “हर समय औरतों पर ज़ुल्म होते आए हैं और अब भी हो रहे हैं। इसे रोकेगा कौन? सारे मर्द एक जैसे हैं। जैसे गाय, गाय को नहीं पालती, वैसे ही मर्द क्या मर्द को सिखाएगा! आज मैं सिखा दूँगी!”

जैसे भादों के बादल में बिजली चमकती है और चारों ओर गड़गड़ाहट गूँजती है, वैसे ही इस हंगामे के बीच आकाश में एक बात उड़ रही थी- “सिसौनी में आग लगा देंगे, लंका की तरह जला देंगे!”

“इज्जत और आबरू लूट ली, अब गाँव में आग लगा देंगे!”

“चौराहे पर अपराधियों को लाकर मुँह पर थूक देंगे और फिर आग लगा देंगे!”

“सिसौनी की बहू-बेटियों को पकड़कर ले आएँगे!”

क्रोध की चिनगारियाँ फुलझड़ी की तरह उड़–उड़कर आकाश में चमकने लगीं। लेकिन ये सब बातें व्यक्तियों के व्यक्तिगत विचार थे, सामूहिक नहीं। कोई किसी की बात सुनने को तैयार नहीं था और न ही अपने मुँह पर नियंत्रण रखने को।

फिर भी समझदार लोगों ने रास्ता नहीं छोड़ा। घर में लगी आग बुझाने में हाथ–पैर जल ही जाया करता है।

गाँव के सबसे बुज़ुर्ग थे मनधन बाबा। जैसे उन्होंने नब्बे माघ की ठंड काटी थी, वैसे ही न जाने कितने झंझावात, ओलावृष्टि, बाढ़, अकाल और उपद्रव देख–झेल चुके थे। गाँववालों की एकमुश्त भीड़ को देखकर बाँस की फट्ठी पकड़े, टुकुर–टुकुर चलते हुए मनधन बाबा भी पहुँच गए। पीछे से उन्होंने भीड़ को देखा, तो मन ही मन मान लिया कि अब सिसौनी और बाँसपुरा के बीच हिंसा होकर ही रहेगी। ब्रह्मा का बाप भी नहीं बचा सकता! कौन मरेगा, कितनी हड्डियाँ टूटेंगी,

कुछ तय नहीं!

सोचते–सोचते उनकी आँखों से आँसू की धार बहने लगी। सीना फटने–सा लगा। हृदय काँप उठा। शरीर का कंपन टूट पड़ा। ज़ोर–ज़ोर से रोने लगे। गंगोत्री की गंगा जैसे आँखों से बहे, बिना थमे। मुँह से बोल निकलने लगे और थर–थर काँपती छाती के साथ वे असहाय हो उठे।

जैसे कोसी की धार के बीच रेत में फंसी पिछली धारियाँ घूमने लगती हैं, वैसे ही मनधन के विचार चक्कर काटने लगे। हूक भरकर वे आगे बढ़े और रास्ते पर बाँस की फट्ठी से निशान बनाते हुए चलते रहे। मन शांत नहीं हो पा रहा था। कभी आँखों के सामने दो गाँवों का विनाश दिखता, तो कभी पीढ़ियों की दुश्मनी।

मौन में उन्हें जुड़शीतल पर्व की एक घटना याद आ गई।

एक मरे हुए बैल को लेकर बेला और मैनही गाँव के शिकार खेलनेवालों के बीच संघर्ष हुआ था। भयंकर संघर्ष। परिस्थिति भी प्रतिकूल थी। त्योहार मनाने के लिए सब लाठी, गड़ासे, तीर–धनुष लेकर निकले थे। न लोगों की कमी, न हथियारों की। मुद्दा भी भारी था, एक मरा हुआ बैल। लेकिन बात गाँव की प्रतिष्ठा की थी। उसी प्रतिष्ठा को लेकर कितनों के सिर फूटे, कितनों के हाथ–पैर टूटे और दोनों तरफ़ से एक–एक जानें भी गईं। कोई किसी को देखने–समझने वाला नहीं रहा। जो जहाँ था, वहीं कराहता रह गया। किसी को कौन उठाकर ले जाता और इलाज कराता?

क्या आज भी वैसा ही कुछ नहीं होगा?

फिर, मनधन बाबा के मन में आया कि सबको मना करें, लेकिन सुनेगा कौन? विचित्र स्थिति में उनका मन डूबने लगा। आँखें उठाते तो देखते कि वे स्त्रियाँ, जो कभी उनके सामने सिर तक नहीं उठाती थीं, आज उग्र रूप में साड़ी की छोर कसे, लाठी लेकर खड़ी हैं! सबका मन हिंसा पर टिका है! इसे कैसे हटाया जाए?

पर भीतर से उन्हें थोड़ी राहत भी मिली, अच्छी चीज़ों की कीमत अधिक ही होती है। विचारों में उलझे मनधन बाबा को अपना दायित्व याद आया। पर इस कोलाहल में कोई उनकी बात सुने, इसकी कौन गारंटी?

तथापि, उन्होंने बाँस की फट्ठी का एक सिरा पकड़कर और दूसरे से संकेत करते हुए सबको शांत होने के लिए कहा।

लेकिन लोग अपने ही ताल में, बेताले हो गए थे! गाँव के जितने कुत्ते जहाँ–जहाँ थे, वे सब बाँध की ओर दौड़ते–भौंकते पहुँच चुके थे। छह–छह महीने के बच्चे तक चार बार भौंककर, थोड़ा सुस्ताकर, फिर भौंकने लगते!

मनधन बाबा के मन में यह बात उठी कि बाँसपुरा की लड़की के साथ जो दुर्व्यवहार सिसौनी के बदमाशों ने किया, वह पूरे गाँव की इज्जत से जुड़ा सवाल है। इज्जत के लिए जान देना पुरुषों का काम होता है। इसे कौन नीचा कहेगा? हर किसी को अपनी इज्जत को बनाए रखने, निभाने और बचाने के लिए जान भी देनी पड़ेगी। अगर यह भावना नहीं रही, तो कब किसकी इज्जत लूट ली जाएगी, इसका कोई भरोसा नहीं। अब तो साल–दर–साल भदबरिया मेंढकों की तरह लुच्चे–लंपट जन्म ले रहे हैं, जो गाँव–गाँव में फैलते जा रहे हैं!

पर गाँव के भीतर तो ऐसे कुकर्म तो सदा होते आए हैं। तब तो कोई कुछ नहीं बोलता! उसी समय सब कह देते हैं, अरे छोड़ो, यह तो लड़का–लड़की का खेल है..

जब दोनों पक्षों की बात मन में उठी, तो मनधन बाबा के मुँह से हँसी फूटने लगी। लेकिन गाँव वालों के तेवरों ने उनकी हँसी दबा दी।

वे सोचने लगे, इसी काम के लिए सब लोग कट–मरने को तैयार हैं, और वहीं दूसरी ओर, कुछ उसी तरह की घटना को बच्चों का खेल कहकर उड़ा देते हैं! अजीब है लोगों की सोच! जैसे एक पुरुष हमेशा किसी अन्य स्त्री को ताकता रहता है, लेकिन जब अपनी पत्नी को किसी और से बात करते देखता है, तो आग–बबूला होकर कुछ भी करने को तैयार हो जाता है, ठीक वैसा ही अभी भी हो रहा है।

जिस घटना को सब मिलकर 'इज्जत' मान रहे हैं, उसकी रक्षा भी सबको मिलकर करनी होगी। अगर उसे खेल मानते हो, तो खेल की तरह समझो। अगर उसे इज्जत मानते हो, तो इज्जत की तरह उसकी रक्षा करो। लेकिन अगर गुलगुली बातें करते हुए दोनों करते हो, तो फिर इज्जत–आबरू की बात ही मत

करो!

मन थरथराने लगा। उन्होंने रास्ते पर बाँस की फट्ठी की नोक से लकीर खींचते हुए कहा- “इस लकीर को कोई एक भी कदम पार करेगा, तो यहीं अपनी जान दे दूँगा। नहीं तो अभी सब शांत हो जाओ। नहाने–खाने का भी समय हो गया है। सबका चूल्हा–भात बन चुका है। इसलिए अभी लौट जाओ। खा–पीकर चार बजे ब्रह्म स्थान के सामने बैठो और तब आगे की राह तय करो।”

मनधन बाबा की बातों को सबने मान लिया और घर की ओर लौट गए। तत्काल झंझट थम गया, लेकिन मन की धधक अभी भी बुझी नहीं थी। जैसे चिरौरी की सुलगती आग में पानी डाल देने से आग तो बुझ जाती है, पर तपिश बना ही रहता है, वैसी ही स्थिति लोगों के मन की हो गई। सब छोटे-छोटे समूह बनाकर विदा हो गए, लेकिन रास्ते भर क्रोध में बड़बड़ाते ही रहे। सबको डोर की तरह खिंचते हुए घर की ओर जाता देख, मनधन बाबा के मन को थोड़ा शांति मिली। घर की ओर मुड़ते ही उनके मन में विचार आया कि जब सारे गाँववालों को इतना क्रोध है, तो बेचारे कुसुमलाल दंपती पर क्या बीत रही होगी! तो क्यों न उसके घर जाकर कुछ सहानुभूति और भरोसा दिया जाए।

अपने आँगन की राह छोड़, मनधन बाबा सीधे कुसुमलाल के घर पहुँचे। वहाँ पति-पत्नी दोनों दुःख के अथाह सागर में डूबते–उतराते हुए दिखे। दोनों निराश। आशा की कोई किरण दूर–दूर तक नहीं। दोनों के चेहरों पर मलीनता छा गई थी। मन बार-बार सोचता कि बिना इज्जत के जीवन जीना कोई जीवन नहीं, बल्कि दोनों के लिए तो यह घोर अपमान है।

दोनों को देख मनधन बाबा चुपचाप मेह की तरह दुआर पर खड़े रह गए। न कुसुमलाल कुछ बोले- न बाबा। मन में संशय हुआ कि शायद कुसुमलाल हमें ही दोषी मानते हों। जैसे प्रेम की अंतिम सीढ़ी विवाह होती है, वैसे ही क्रोध की अंतिम परिणति हत्या हो सकती है। हो न हो, कहीं कोई तीखी बात न कह बैठे..

फिर सोचे, आ ही गए हैं, तो दिलासा दे ही दें। संयम बाँधकर बोले-

“बउआ कुसुम! तू हमारे सामने अभी बच्चा है। तेरे मुकाबले इस दुनिया का हम बहुत कुछ देख–झेल चुके हैं। मन को स्थिर कर। जो हो गया, वह अब

लौट नहीं सकता। लेकिन फिर भी क्या करना है, कितना करना है, यह सब समझना पड़ेगा। ऐसा तो नहीं कि हर कोई जान दे ही दे। तुम दोनों माता–पिता हो। दुःखी होना स्वाभाविक है। लेकिन आज क्या देखा तूने? देखा न कि पूरा गाँव असीम दुःख में डूबा हुआ है। इस विचार को मन से हटा कि हमारी इज्जत चली गई। गरीब आदमी का सबसे बड़ा दुश्मन उसकी गरीबी है। गरीबी केवल रोटी–पानी तक सीमित नहीं रहती, यह जीवन के हर पहलू को घेरे रहती है। गरीबी की बेड़ियाँ ऐसी होती हैं, जो गालियों–झगड़ों से लेकर धन–सम्पत्ति, माँ–बहन की इज्जत तक लूटने का रास्ता खोल देती हैं। तब अगर कोई हँसते–खेलते जी भी ले, तो वही लाखों में एक होता है।"

"बउआ, गरीबी का ताला लोहे के ताले से भी बड़ा और कठोर होता है। लोहे के ताले में एक ही मुँह और एक ही दाँत होता है, जो चाभी घुमाते ही खुल जाता है। लेकिन गरीबी के ताले में अनेक मुँह होते हैं और अनेक दाँत, एक खोलोगे तो दूसरा लग जाएगा। सीधे तो खुलेगा ही नहीं, उलटे पहले से भी ज्यादा कसकर लग जाएगा। इसलिए जैसे आम का पेड़ सालों भर धूप, बारिश, आँधी–तूफान, ठंड सब सहकर बड़ा होता है और फिर उसका फल आदमी से लेकर जीव–जन्तु तक सब खाते हैं, वैसे ही मनुष्य का जीवन भी है। जब से गरीब घर में जन्म लिया, तभी से समझ ले कि केवल आँखें हैं देखने के लिए, गालियाँ सुनने के लिए कान हैं, और मार सहने के लिए शरीर। गरीब की आँखों में जितनी रोशनी बढ़ती है, वह उतनी ही आँसुओं के समुद्र की ओर बढ़ता है। और जब समुद्र के पास पहुँचता है, तब वह धारा अनवरत बहती है, जो कभी नहीं रुकती! तेरा दुःख अब समाज का दुःख बन गया है। समाज ऐसा कारखाना है जिसमें देवता से लेकर अछूत तक सब बनते हैं। इसलिए न किसी के कहने से इज्जत आती है, न जाने से जाती है। लोग खुद ही बनाते हैं और खुद ही गवाँते हैं..।"

मनधन बाबा की बात सुनते–सुनते पवित्री ज़ोर–ज़ोर से रोने लगीं और हिचकियों में बोलीं- "बाबा! आप तो गाँव के बुज़ुर्ग हैं, इसलिए आपकी बात मान ली। नहीं तो आज सिसौनी में आग लगा दिए बिना छोड़ती नहीं। जब से बेटी आई है, तब से एक बार भी मुँह उठाकर किसी की ओर नहीं देखा है। रोते–रोते

दोनों आँखें फूले बेल की तरह हो गई हैं। हर समय यही रट लगाए रहती है कि जीकर भी क्या होगा? जब इज्जत ही चली गई, तो किस मुँह से समाज का सामना करेंगे?”

पवित्री की बात सुनकर मनधन बाबा का हृदय फटने–सा हो गया। आँखों में आँसू उमड़ आए। दोनों हाथों से आँखें पोंछते हुए बोले- “बेटी, जिसे तुम इज्जत जाना समझ रही हो, वह इज्जत गई नहीं है, यह बलपूर्वक किया गया अपराध है। और बलात् किए गए अपराध को केवल बातों से नहीं मिटाया जा सकता, उसे ताकत से रोकना पड़ता है। गरीबों में अभी वह ताकत नहीं आई है, जिस दिन आएगी, यह सब अपने आप रुक जाएगा। आज बल करनेवाला ताकतवर है, इसलिए हमें समझदारी से काम लेना होगा। इस इलाके में ऐसा कौन–सा गाँव है जहाँ ऐसी घटनाएँ नहीं होतीं? सबसे पहले गरीब को अपने पैरों पर खड़ा होना होगा। जब वह संगठित होकर खड़ा होगा, तभी शोषकों और बलात्कारी ताकतों से लड़ सकेगा। संघर्ष से ही समाज बदलता है, और जब समाज बदलता है, तब सब कुछ बदल जाता है, इसलिए रोओ नहीं, निराश मत हो। समाज के साथ कदम से कदम मिलाकर चलो।”

सब कह कर विदा हो गए। मनधन बाबा ने घर की राह तो पकड़ ली, पर कदम उठ ही नहीं रहे थे। फिर भी जैसे-तैसे जबरन चलते-चलते घर तक पहुँच तो गए, लेकिन शरीर में जैसे आग सुलग रही थी। जिससे उनके विचार उलझ गए। धरती और पहाड़ की दूरी देख सोचने लगे, क्या कोई अंगुली काटेगा और दर्द किसी और को होगा? अब तक तो यह घटना लड़के-लड़कियों की बचकानी शरारत समझी जा रही थी, लेकिन अब बात सही दिशा में बढ़ रही है। इसलिए अब इसे रोकना उचित नहीं।

फिर मन में उठने लगा, ये तो दो गाँवों के बीच की बात है। यदि एक ही गाँव की होती तो बात हल्की होती, मगर दो गाँवों के बीच ऐसी घटना कितनी गंभीर मानी जाएगी? लेकिन फिर छोड़ भी नहीं सकते। आदि काल से पहाड़ी धार की तरह बहते हुए जो प्रवाह चला आ रहा है, उसे रोकना भी तो जरूरी है। वरना वैश्वीकरण की आँधी में उड़कर बात आकाश तक पहुँच जाएगी। और जिस

दिशा में प्रतिक्रिया बढ़ रही है, वह तो और भी विनाशकारी है। जैसे इस गाँव के लोग अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए मरने–मारने पर उतारू हैं, वैसे अगर सिसौनी वाले भी अपनी इज्जत की लड़ाई समझ खड़े हो जाएँ, तब क्या होगा? खड़े होने के पीछे कई कारण हो सकते हैं। वैसे तो यह घटना सार्वजनिक स्थान की है, फिर भी लड़की गाँव में आकर बोल चुकी है, जिसे गाँव के लोग सच्चाई मान रहे हैं। लेकिन सच्चाई होते हुए भी जरूरी नहीं कि सिसौनी वाले मान ही लें। आखिर एक गाँव कब तक दूसरे गाँव पर जबरदस्ती कर सकता है?

मनधन बाबा को कोई रास्ता नहीं सूझ रहा था। दो गाँवों के बीच बात को समझदारी से रोका जा सकता है, लेकिन अगर इस तरह की घटनाएँ नहीं रोकी गईं तो सार्वजनिक स्थान की गरिमा कितने दिन टिक पाएगी?

दलान के ओसारे की ज़मीन पर बैठे हुए जब हाथ बदले, तो मन में आया कि इस घटना को सामाजिक स्तर पर रोकना ही ठीक होगा। मन फिर से अस्थिर हो गया।

सोचने लगे, बैठक में जाएँ कि नहीं? मगर बात तो उन्होंने ही उठाई थी। फिर मन में आया, चार बजे सारे गाँव को बैठने के लिए बुलाया था, इसलिए नहीं कि अपनी बात सुना दूँ, बल्कि इसलिए कि सबके विचार सुन सकूँ। दस लोग मिलकर काम करें, तो हार–जीत में शर्म नहीं होती। अब तो ऐसा लगता है जैसे पका हुआ आम हूँ, कब गिर जाऊँ, पता नहीं। यह भी ज़रूरी नहीं कि मेरी बात सबको अच्छी ही लगे। अगर नहीं लगी तो और दुःख होगा। वैसे भी मूलतः यह घटना महिलाओं से जुड़ी है। जो पुरुष हजारों वर्षों से ऐसे अपराध करते आए हैं, वे इतनी सहजता से क्या मान लेंगे? और फिर दूसरे गाँव की बात कहीं अपने गाँव तक न आ पहुँचे! आज भी समाज में ऐसे अपराधों को लोग हँसी-मजाक समझते हैं।

फिर विचार आया, हम भी तो अब ज़बरदस्ती ही जी रहे हैं, वरना हमारी बातें कितने गाँवों तक पहुँचती हैं! तो क्या अब समाज से हट जाएँ? अगर हट जाएँ तो मरने के बाद हमारा क्या बचेगा? वैसे देखने तो हम आएँगे नहीं। अपने ही घर में देखता हूँ कि लोग सिनेमा के कलाकारों और खिलाड़ियों की पूरी

वंशावली जानते हैं, पर अपना कुल-खुट तक नहीं जानते। ऐसे भी तो गरीब गाँव हैं! किससे कहें, अब तो महिलाएँ भी ऐसी हो गई हैं कि पुरुषों को गालियाँ दे–देकर कहती हैं- "जैसा कुल होगा, वैसा ही चाल होगा!" अब कहिए, कुल का क्या दोष है? छोटे-छोटे बच्चे अब 'शिखर' और 'पराग' खाने लगे हैं, इसमें किसका दोष है? जीते–जी ऐसी-ऐसी लीला देखनी पड़ती है, और मरने पर हीरा जड़ित मंदिर बना देंगे?

इतने में पोती आकर टोकी- "खाने चलिए बाबा, नहाएँगे नहीं?"

मनधन बाबा कुंडली मारे साँप की तरह बोले- "चले–फिरने का होश ही कहाँ है! यहीं ले आ। पहले एक लोटा पानी ला, मुँह-हाथ धो लें।"

जिस प्रकार गीला मन होने पर खाने की इच्छा नहीं होती, वैसा ही कुछ मनधन बाबा को लगने लगा। फिर भी किसी तरह मन को मारकर खाने लगे। सूखा-साधा चार कौर खाकर एक लोटा पानी पीकर पोती से कहा- "अन्न नहीं उतर रहा। ले जाओ।"

हाथ–मुँह धोकर मनधन बाबा चौकी पर औंधे लेट गए। लेकिन जिस तरह बुखार में शरीर बेचैन होता है, वैसे ही वह करवट बदलते रहे। समय हुआ तो उठकर फराठी (छड़ी) हाथ में ली और बरहम स्थान की ओर निकल पड़े।

तीन ही बजे से लोग बरहम स्थान पर जुटने लगे। चार बजे से पहले ही सारा गाँव एकत्र हो गया। लेकिन आज एक नया दृश्य भी देखने को मिला। गाँव में अब तक किसी पंचायत या सार्वजनिक काम में महिलाओं की कोई भागीदारी नहीं होती थी, लेकिन आज घर–घर से महिलाएँ भी पहुँच गईं। वैसे तो उन्हें आज तक कोई बुलाता भी नहीं था। लेकिन जब यह निश्चित हुआ कि पुरुष और महिलाएँ दोनों साथ बैठेंगे, तब उनके भीतर भी हिम्मत आई। और जब हिम्मत आई तो वे टाट-फराक के पर्दे तोड़कर घर से निकल पड़ीं, तीखे और मीठे अनुभव का स्वाद लिए। अब तक जो बुद्धि-विवेक बीज रूप में मिट्टी में दबा पड़ा था, वह एकाएक अंकुरित हो उठा।

तब उन्हें महसूस हुआ कि आज तक महिलाएँ पुरुषों की चरागाह बनकर रह गई थीं! जबकि विवेक, बुद्धि, हाथ–पाँव तो हमारे पास भी हैं। बस ज़रूरत है

तो नींद तोड़कर जागने की! पुरुषों ने चरते–चरते स्त्री के पूरे जीवन को पांडु रोगी की तरह निस्तेज बना दिया है! विवाह से पहले शिक्षा-विहीन बालिका का जीवन और विवाह के पाँच दिन बाद से कलंकित विधवा की ज़िन्दगी! जैसे सामूहिक हत्यारे को जेल में यातना दी जाती है, वैसी ही यातना महिलाओं को सहनी पड़ी है..! लेकिन आज बंसपुरा में एक नया सूरज उग आया है।

बैसार में पुरुष–महिला तो पहुँचीं, मगर एक साथ नहीं बैठीं। अलग-अलग बैठीं, एक ओर पुरुष, दूसरी ओर महिलाएँ। चूँकि कोई संयोजक नहीं था, इसलिए दोनों बैसारों में सब अपने-अपने पेट की बात बोलने लगे, जिससे दोनों तरफ गड़बड़ी होने लगी। कोई किसी की बात सुनने को तैयार नहीं था। सब बस बोले ही जा रहे थे। मगर जब तक सबने अपने मन की बात कह नहीं दी, तब तक बात शान्त नहीं हुई। बात जैसे ही पूरी हुई, सब तालाब के पानी की तरह शान्त हो गए।

किनारे बैठे मनधन बाबा समाज का रुख चुपचाप देख रहे थे। सबके चेहरे पर पसीने की बूँदें देखकर उन्हें लगा कि भीतर की गर्मी अब बाहर निकल चुकी है। समस्या को दो तरीकों से सुलझाने की बात सोचकर वे उठकर खड़े हुए और बोले- “दूसरों की गर्दन देखने से पहले अपनी देखो। अगर अपनी नहीं देखोगे, तो हाल वैसा ही होगा जैसे हँसी में कही बात गंभीर विचार बन जाए। सबसे ज़रूरी है कि गाँव के बीच जो ऐसी बुरी चालें चल रही हैं, उन्हें बन्द किया जाए। अगर नहीं करेंगे, तो आज वो लकड़ी जल गई है जो एक गाँव क्या, सौ गाँव को भी जला सकती है। आज जो भीड़ देख रहा हूँ, उसमें पुरुषों से कम महिलाएँ नहीं हैं। इसलिए दोनों बैसारों को एक करो।”

‘एक बैसार’ सुनते ही दोनों ओर गड़बड़ शुरू हो गई। दोनों पक्षों की सोचें टकराने लगीं। टकराव देखकर कई पुरुष उठकर जाने लगे। लेकिन बाबा की बात महिलाओं ने मान ली और अपनी बैसार समेट कर पुरुषों की बैसार में आकर धीमे-धीमे बोलते हुए बैठ गईं- “बाबा, हम सब आपके पीछे खड़ी हैं, उठिए और निर्णय दीजिए।”

महिलाओं की आवाज़ सुनकर बाबा को लगा कि यह आवाज़ शरीर की

नहीं, आत्मा की है। सब दिल से भलाई चाह रहे हैं। इसे रोकना तो नामुमकिन है, लेकिन मोड़ा जा सकता है।

एक तो बुढ़ापा, ऊपर से मन में सुलगती आग, मनधन बाबा थरथर काँपते हुए, फराठी के सहारे उठ खड़े हुए और बोले- "बेटा, मेरे सामने सब बच्चे हो। जब बच्चा बेटा और बेटी बनते हैं, तभी से भेदभाव शुरू हो जाता है। लेकिन हम सबको बच्चे ही मानते हैं, इसलिए कहता हूँ कि तुम सब अपनी भलाई की राह पकड़ो। अभी जो घटना है, जिस समस्या के कारण सब एक जगह इकट्ठे हुए हैं, वह केवल दो लोगों की नहीं बल्कि दो समाजों की समस्या है। अगर यह केवल दो व्यक्तियों की बात होती, तो उसे छोटा माना जाता, मगर दो गाँवों की समस्या को छोटा मानना एक बड़ी भूल होगी। यह ऐसी बात है जो एक से अनेक में फैल सकती है। जैसे तुम सब कह रहे हो कि सिसौनी में आग लगा देंगे, मारेंगे, बेइज्जत करेंगे, वैसे ही वे भी करेंगे। तुम मारोगे तो वे भी मारेंगे। तुम सिर फोड़ोगे तो वे भी फोड़ेंगे। अभी तो तुम सोच रहे हो कि सारा हमला तुम करोगे और वे बस मार खा जाएंगे! पर ऐसा कहीं होता है? दोनों ओर के लोग मारते भी हैं और मार खाते भी हैं।"

मनधन बाबा की बातें सुनकर सभी सोचने लगे, सिर हिलाने लगे। एक-दूसरे को देखने भी लगे और नज़रें नीचे झुका लीं। सबके मन में हिंसा की गंभीरता घूमने लगी। फिर भी मन की गरमी पूरी तरह ठंडी नहीं हुई। विचार उलझने लगे। कभी शान्ति का रास्ता ज़ोर पकड़ता, तो कभी हिंसा का। ये उतार–चढ़ाव सबके चेहरे और व्यवहार से साफ़ झलक रहे थे।

लोगों की मन:स्थिति देखकर बाबा फिर खड़े हो गए और बोले- "गाँव में देख रहे हो कि जो थोड़ा ऊँचे घराने का है, वह गरीब के साथ कैसा व्यवहार करता है, जबकि अगर वह उसी जाति का, अपना रिश्तेदार ही क्यों न हो!"

थोड़ी देर चुप रहकर बाबा फिर बोले- "भीतर से तो अपना ही गाँव खोखला है। देख ही रहे हो कि सब अपने-अपने पेट के लिए दिन-रात लगे रहते हैं। न तो अपने लिए फुर्सत है और न समाज के लिए कोई चिंता। समाज क्या है, लोग समझते ही नहीं। अपने पेट के लिए बेईमानी, शैतानी, चोरी–डकैती सब

कुछ करते हैं। मिलकर समाज को परिवार की तरह संगठित कर कुछ करें, ऐसी भावना किसी में है ही नहीं। वैसे तो सिसौनी भी वैसी ही है, लेकिन फिर भी हमारे गाँव से थोड़ा बेहतर है। कम से कम वहाँ सब मिलकर दुर्गा पूजा तो करते हैं। जब दस–पंद्रह दिन सब एक साथ मिलकर एक काम में लगते हैं, तभी तो बातचीत होती है, साल भर के छोटे–छोटे झगड़े खत्म होते हैं, जिससे सामूहिक ताकत बढ़ती है। इसलिए समाज को आगे बढ़ाने के लिए सामूहिक कार्य ज़रूरी हैं।"

"जब तक लोगों के मन में सामूहिक कार्य के प्रति रुचि नहीं होगी, तब तक समाज कैसे आगे बढ़ेगा? अगर इस नज़र से देखोगे, तो समझोगे कि हमारा गाँव सिसौनी से थोड़ा पीछे है। सिसौनी से आगे है पछवारि गाँव 'बरहरबा'। वहाँ देखो, दुर्गा पूजा होती है, पढ़ाई के लिए हाई स्कूल भी है। बरहरबा से आगे दक्षिण का गाँव है, 'कटहरबा'..।"

कटहरबा गाँव में हाई स्कूल भी है, अस्पताल भी है, और साल में एक बार सब मिलकर चार दिनों का मेला, काली पूजा, भी आयोजित करते हैं। जिस गाँव में जितने अधिक सार्वजनिक कार्य होंगे, वह गाँव उतनी ही तेजी से आगे बढ़ेगा। गाँव का नेतृत्व केवल संस्था बन जाना या पूजे जाना नहीं होता, बल्कि आचार, विचार, व्यवहार, चाल-ढाल, सब कुछ बदलना होता है। जब तक कोई गाँव पिछड़ा रहेगा, तब तक वहाँ विधवा-बेटियों की उपेक्षा, मारपीट, शोरगुल चलती ही रहेगी। जब तक लोग झूठ-फरेब बोलते रहेंगे, छोटी-छोटी बातों पर झगड़ते रहेंगे, तब तक उनके समय का कोई मोल नहीं होगा। जब जीवन ही मूल्यहीन हो जाए, तो श्रम का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। श्रम जो कि सृष्टि की सार्थकता है, मनुष्य की पूँजी है, वह धूल की तरह उड़ता रहेगा। भाग्य बनाने वाले हाथ कटते रहेंगे। जिससे लोगों की कमाई लूटती रहेगी, और आँखें हमेशा आँसुओं से भीगी रहेंगी। जिसकी आँखें आँसुओं से ढँकी होंगी, वह दुनिया को कैसे देख पाएगा?"

मनधन बाबा बोले ही जा रहे थे कि सुनने वालों के बीच गड़बड़ शुरू हो गई। लेकिन इस गड़बड़ से बाबा को दुख नहीं, बल्कि खुशी हुई। उन्हें लगा कि

शायद लोगों के मन में अब कुछ हलचल हो रही है। उन्होंने पुरुषों और महिलाओं की ओर एक साथ देखा। बैठे-बैठे ही जोगिन्दर जोर से बोल उठा- "दुर्गा पूजा तो अब अगले साल होगी, लेकिन काली पूजा तो पास ही में है। तो हम सब आज ही यह संकल्प लें कि हम भी अपने गाँव में काली पूजा करेंगे।"

जोगिन्दर की बात पर सबने ताली बजाकर समर्थन दिया। इसी प्रतिक्रिया का परिणाम है कि गाँव में काली पूजा की परंपरा शुरू हुई।

हालाँकि धूप के कारण गाँव के किसान और खेतिहर मजदूरों की हालत दयनीय थी, लेकिन सिसौनी की घटना ने ऐसा उत्साह भर दिया कि सब कुछ भूल गए। जोश में आकर खेतिहर मजदूरों ने इक्यावन-इक्यावन रुपये चंदा देने की घोषणा कर दी। मजदूरों का उत्साह किसानों को भी झकझोर गया।

प्रतिष्ठा का प्रश्न सामने आ गया। ऊपर से प्रवासियों ने उसमें और रंग भर दिया। जैसे एक दुख को दबाने के लिए अनेक दवाइयाँ और उपाय सामने आ जाते हैं। जब समाज के साथ चलना होता है, तो व्यक्तिगत दुख को दबाना ही पड़ता है। सार्वजनिक कार्य में पीछे हटना उचित नहीं होता। गाँव की बहू-बेटियाँ जब दूसरे गाँवों के मेलों में देखने जाती थीं, उस प्रतिष्ठा को अब स्वयं अर्जित करना होगा। सबसे बड़ी बात यह थी कि अब बदला लेने का रास्ता तैयार हो रहा था। अगर हमारे गाँव के लोगों को दूसरे गाँव वाले अपमानित करेंगे, तो हम भी उनका वैसा ही जवाब देंगे। जिससे वे लोग भी हमारे गाँव के आयोजन में शामिल होंगे।

उत्साहित होकर प्रेमलाल खड़ा हुआ और जोर-जोर से बोलने लगा-

"भाइयों! हमारे गाँव के भाई–बहन दूसरे गाँव के मेलों में जाकर अपमानित होते हैं। इसका कारण क्या है? कारण है कि हमारे गाँव में ऐसा कोई सार्वजनिक आयोजन नहीं होता। जब हम भी वैसा आयोजन करेंगे, तो दूसरे गाँव के लोग खुद डरेंगे। वही डर गाँव को प्रतिष्ठित बनाएगा। गोस्वामी जी ने रामायण में कहा है, 'बिनु भय होइ न प्रीति।'"

प्रेमलाल का मुँह तो बंद हो गया, लेकिन उसका मन अब भी कुछ कहने को मचल रहा था। लेकिन नई बात मन में लाना उचित नहीं लगा, और बोले हुए

को दोहराना भी ठीक नहीं लगा, तो बैठ गया। प्रेमलाल के बैठते ही फिर से शोरगुल शुरू हो गया। शोर ऐसा बढ़ गया कि सौजनियाँ भोज की तरह हो गया।

शोर देखकर अनुप खड़ा हुआ, हाथ के इशारे से शान्ति करते हुए गुस्से में बोला- "देखिए, शोर मचाने से कुछ नहीं होगा। समझते हैं कि सिसौनी वालों को इतनी गर्मी क्यों चढ़ी रहती है? वे दस हजार रुपये खर्च कर के दुर्गा पूजा करते हैं! इसलिए उनका घमंड बढ़ा हुआ है। हमें उसे तोड़ना है। इसलिए हम पचास हजार रुपये काली पूजा में खर्च करेंगे। अगर हम सस्ते में पूजा करेंगे, तो वे हमारी पूजा को कोई अहमियत नहीं देंगे। इसलिए सोच-समझ कर हर हालत में ज़ोरदार आयोजन करना होगा।"

"अभी पूजा समिति बना लें। वैसे भी काली पूजा में अब बीस-बाईस दिन ही बचे हैं। लेकिन अभी से गाँव से गाँव तक माहौल बनाना होगा। पूजा समिति में हर टोले और हर जाति के सदस्य रहें। अगर ऐसा नहीं करेंगे, तो अनायास ही अब से ही दूरी और मनमुटाव शुरू हो जाएगा। इतना ही नहीं, जब हर जाति का प्रतिनिधि रहेगा, तो काम भी आसान होगा। सब अपनी समझ और हुनर से सहयोग देंगे।"

अनुप के विचार से सब सहमत हुए। समिति बनने लगी। सबने मिलकर इक्कीस लोगों की समिति बनाई, जिसमें पाँच महिलाएँ थीं। इक्कीसों सदस्य खड़े हुए तो एक दिव्य दृश्य जैसा प्रतीत हुआ। सभी युवा। इक्कीसों के मन में उत्साह था कि वे सामाजिक क्षेत्र में आगे बढ़ रहे हैं। समिति के सदस्य एक ओर बैठे, और गाँव के लोग दूसरी ओर। सबने मिलकर विचारों को आगे बढ़ाया।

अब संचालन के लिए पदाधिकारियों की ज़रूरत थी, कम-से-कम अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और कोषाध्यक्ष की। लेकिन अध्यक्ष कौन बने? यह गंभीर प्रश्न था। सब एक-दूसरे का मुँह देखने लगे।

किसी के पास अनुभव नहीं था। हालाँकि अधिकांश सदस्य अध्यक्ष बनना चाहते थे, लेकिन अनुभव न होने के कारण डर भी था। सबको चुप देखकर रघुनाथ ने अपने चचेरे भाई देवनाथ का नाम अध्यक्ष के लिए प्रस्तावित किया।

देवनाथ का परिवार पूरे गाँव में जाति और पूजा, दोनों में सबसे प्रतिष्ठित

माना जाता था। देवनाथ का नाम सुनते ही अधिकतर सदस्य चौंक उठे। विरोध में किसी और का नाम न सुनकर मंगल ने स्वयं अपना नाम प्रस्तावित कर दिया।

जैसे ही दो नाम सामने आए, सभा में धीमी-धीमी चर्चा शुरू हो गई। जाति और संपत्ति की दृष्टि से मंगल देवनाथ से पिछड़ा था, लेकिन बातचीत में साफ़गो और ईमानदार, और बी.ए. पास भी था, यह बात सभी जानते थे।

देवनाथ और मंगल, दोनों ने एक ही वर्ष बी.ए. किया था। पढ़ाई में भले ही मंगल तेज था, लेकिन रिजल्ट देवनाथ का बेहतर रहा था। उसका कारण यह था कि देवनाथ शुरु से ही घुंमाचक्री में रहता था।

मंगल का नाम सुनते ही देवनाथ और रघुनाथ आपस में आँखों से इशारा करके कुछ बातें करने लगे। थोड़ी देर बाद रघुनाथ ने मंगल को पास बुलाकर कहा- "भैया, मेरे लिए आप भी उतने ही प्रिय हैं जितने देवनाथ भैया। आप दोनों मेरे संगी हैं। निवेदन है कि देवनाथ भैया को अध्यक्ष और आपको उपाध्यक्ष बनाकर समिति का कार्य आगे बढ़ाइए।"

मंगल के मन में केवल पूजा समिति चलाने की बात नहीं थी, बल्कि समाज को आगे ले जाने की इच्छा भी थी। बचपन से ही उसने देवनाथ की चाल-ढाल देखी थी। लेकिन समाज तो पोखर के जल जैसा होता है, जिसमें हवा और आँधी के थपेड़े उठते भी हैं और तुरंत शांत भी हो जाते हैं।

मंगल के मन में देवनाथ को लेकर एक और बात घूम रही थी। बात कोई चार साल पुरानी थी, जब एक दिन गाँव की एक लड़की से छेड़खानी करते हुए मंगल ने देवनाथ को रंगेहाथ पकड़ा था। हाट से लौटते समय मंगल को देखकर वह लड़की फूट-फूटकर रोने लगी थी।

मंगल ने साइकिल खड़ी की, सारी बात सुनी, और गुस्से में बेकाबू होकर बिना कुछ पूछे देवनाथ के मुँह पर चार-पाँच थप्पड़ जमा दिए। क्रोध कम नहीं हुआ था, लेकिन देवनाथ डर से काँपने लगा था। तब मंगल ने कहा- "बच्चा, अब तक तू मेरा संगी है, इसलिए छोड़ रहा हूँ। नहीं तो समाज की बेटी के साथ ऐसा व्यवहार करने वाले को ज़िन्दगी भर का सबक सिखा देता।"

देवनाथ दोनों हाथ जोड़कर, अदालत के दोषी की तरह मंगल के सामने

खड़ा हो गया। विचित्र स्थिति में मंगल उलझ गया। मन में करुणा और क्रोध के बीच घमासान चलने लगा। कभी मन दया की ओर झुकता, तो कभी क्रोध की ओर। अन्ततः मन की अस्थिरता को थामते हुए उसने कहा- "अब तक के संग के नाते छोड़ रहा हूँ.. लेकिन कान पकड़ कर कह दे कि ऐसी गलती फिर कभी किसी से नहीं करेगा! जब तक किसी लड़की की शादी नहीं हो जाती, वह माता-पिता की संतान मानी जाती है, लेकिन ससुराल जाते ही वह गाँव की बेटी बन जाती है।"

यही बात मंगल के मन में अब भी घूम रही थी। रघुनाथ की बात सुनकर मंगल ने उत्तर दिया- "बौआ रघू, गाँव में एक बड़े कार्य की शुरुआत हो रही है। लेकिन समाज तो खंड-खंड होकर बिखरा पड़ा है। इसीलिए ज़रूरत है कि हर टुकड़े को अलग-अलग पहचानकर जोड़ना होगा। जब तक ऐसा नहीं होगा, कोई भी सार्वजनिक कार्य सफल नहीं हो सकेगा। वह खंडित ही रह जाएगा।

तुमने देखा होगा कि जब कोई भोज होता है, तो दस-बीस कोस दूर से पंच खाकर जाते हैं, लेकिन भोजदाता के घर के बगल वाले परिवार भूखे ही रह जाते हैं। ऐसे अन्यायी समाज में न्याय कब आएगा और कौन लाएगा?

अभी जो सामाजिक ढाँचा खड़ा है, वह अस्थिर और असंतुलित है। जैसे कोई बोझ असंतुलित हो तो कब सिर से गिर जाए, कहा नहीं जा सकता, वैसे ही समाज का हाल है। इसलिए यह बोझ बराबर-बराबर बाँटना चाहिए, जिससे गिरने की कोई आशंका ही न रहे।

हर बड़े काम में समाज के एक-एक बच्चे को भागीदारी मिलनी चाहिए। चाहे वह कितना ही अनगढ़ क्यों न हो, लेकिन उसके मन से यह विचार कभी नहीं आना चाहिए कि यह कार्य हमारा नहीं, किसी और का था। हम केवल करनेवाले हैं, करावनवाले नहीं। कोई चाहे पीढ़ियों से खेती करता आया हो, आज भी कर रहा हो, और आगे भी करेगा। अगर वह नहीं करेगा, तो खेती कैसे चलेगी? लेकिन वह भी समाज का उतना ही अंग है, जितना कोई पढ़ा-लिखा व्यक्ति।

अब जब कि पूरा गाँव एक साथ बैठा है, तो पूजा से संबंधित सारे निर्णय सबके बीच हो जाएँ। सिसौनी में आज भी देखता हूँ कि दुर्गास्थान में सबकी पहुँच

नहीं है।"

मंगल की बात सुनकर सभी स्तब्ध रह गए। मन में उठापटक शुरू हो गई। यद्यपि बहुत से लोगों के मन में सारी बातें पूरी तरह नहीं समा रही थीं, लेकिन जितनी भी समाईं, वे अग्निशिखा की तरह चमक उठीं।

व्यवहारिक जीवन और वास्तविक जीवन के बीच की दूरी बहुत अधिक हो गई है। अब आवश्यकता है कि व्यवहारिक जीवन को वास्तविक जीवन की ओर मोड़ा जाए। अगर ऐसा नहीं हुआ, तो सदैव चलने का रास्ता टेढ़ा-मेढ़ा बना रहेगा। परोक्ष में उचित बात कहनेवाले की कमी नहीं, लेकिन स्पष्टता से सामने कहनेवाला कोई नहीं! और इसके भी अनेक कारण हैं...।

गुनगुनाहट और धीमी-धीमी फुसफुसाहट देखकर मंगल समझ गए। उनके मन में बुद्धदेव की वह बात उभर आई, जिसमें कहा गया है कि वीणा के तार को न तो इतना कसो कि वह टूट जाए, और न ही इतना ढीला छोड़ो कि उससे स्वर ही न निकले।

मंगल बोले- "मैं अध्यक्ष पद से अपना नाम वापस लेता हूँ। देवनाथ ही अध्यक्ष बनें। लेकिन अभी से लेकर जब तक पूजा की प्रक्रिया चलेगी, तब तक सभी निर्णय समिति के बीच मिल-बैठकर लिए जाएँ।"

मंगल की बात सुनकर देवनाथ भी उठते हुए बोले- "जिंदगी में पहली बार समाज का काम करने का अवसर मिला है, इसलिए मन में अत्यंत हर्ष है। हम सभी अनुभवहीन हैं, इसलिए बिना समझे बहुत सी गलतियाँ हो सकती हैं। लेकिन उन सबको भूल-चूक मानकर सुधारने का उपाय भी होना चाहिए। जब हम सब यहाँ हैं, तो प्रमुख निर्णय अभी ही हो जाएँ। वैसे तो अभी दिन है, लेकिन सबकी निगरानी में रहना ही अच्छा रहेगा।"

देवनाथ की बात सुनकर सभी के मुँह से एक स्वर में निकला- "बहुत बढ़िया, बहुत बढ़िया!" और सभी ने समर्थन किया।

निर्णय हुआ-

(1) गाँव का कारीगर, अर्थात् मूर्ति बनाने वाला ही मूर्ति बनाए। भले ही

दुनिया में एक से एक कारीगर हों, लेकिन पूजाकालीन मूर्ति में केवल कला नहीं, देवी-देवताओं का स्वरूप देखा जाता है। और यदि हम स्वयं अपनी बनाई मूर्ति को ही अधकचरा कहेंगे, तो गाँव का कलाकार आगे कैसे बढ़ेगा? इसलिए अपनी कला को हम सभी मिलकर प्रोत्साहित करें।

(2) काली मंडप गाँव के गृहस्थों द्वारा बनाया जाए। जिनके पास घर बनाने की योग्यता है, वे मंडप क्यों नहीं बना सकते? साथ ही इससे गाँव के अधिक से अधिक लोगों का सहयोग भी सुनिश्चित होगा।

(3) मनोरंजन हेतु गाँव के कलाकारों को अवसर मिले। साथ ही बाहर से ऐसे तमाशे बुलाए जाएँ जो इस अंचल में अभी तक नहीं आए हों।

(4) पूजा में, परंपरा से जुड़े उन पुजारियों को भी अवसर मिले जो सच्चे पूजा-प्रेमी हैं।

(5) गाँव में जो भी लोग काम करें, उसमें अच्छे कार्य करने वालों को सम्मानित किया जाए और जो अधकचरा काम करें, उन्हें आगे अवसर न दिया जाए।

पाँचों निर्णय सर्वसम्मति से पारित हो गए। बैठक समाप्त हुई।

खाना-पीना करके मंगल सोने की तैयारी में थे। रात के लगभग ग्यारह बज रहे थे। सतरंजी बिछाकर वे दोनों हाथों से जाजिम झाड़ रहे थे। तभी जोगिन्दर मंगल से मिलने आ पहुँचे। जाजिम की आवाज़ सुनकर जोगिन्दर घबरा गए। उन्हें लगा कहीं तीन-नट वाला कोई जादू-टोना तो नहीं चल रहा! घबरा-घबरा कर इधर-उधर देखने लगे। लेकिन जब कुछ असामान्य नहीं दिखा, तो मन अशांत हो गया। और उसी अस्थिरता में मंगल को आवाज़ दी।

कमरे से आवाज़ देते हुए मंगल बाहर आए। बाहर आते ही जोगिन्दर को देखकर बोले- “आओ भाय, इतनी रात गए कैसे आए?”

दोनों बरामदे की चौकी पर बैठकर बातें करने लगे। जोगिन्दर ने कहा-

"भाय, आज तक तुम्हें इस रूप में नहीं देखा था। लेकिन आज की सभा में तुम्हारी बातों को सुनकर मन गर्व से भर गया। भाई में कोई दादा जैसा हो, तो बात ही कुछ और है!"

जोगिन्दर की बात सुनकर मंगल बोले- "भाय, बहुत रात हो चुकी है, सुबह जल्दी उठना है। बताओ क्यों आए हो?"

"आज आने का विशेष कारण है, इसलिए सोच समझकर ही आया हूँ। तुमने देखा ही है कि मैं अब तक गाँव में जैसे-तैसे जी रहा हूँ। न रहने को अच्छा ठौर है, न जीने की कोई उम्मीद। लेकिन..।"

"लेकिन क्या?"

"लेकिन यही कि करोड़पति होने के बावजूद गाँव में कोई भी मेरा नहीं है।"

'करोड़पति' सुनकर मंगल चौंकते हुए बोले- "तुम्हें पता है कि एक करोड़ कितना होता है?"

"हाँ, सौ लाख।"

"इतना पैसा कहाँ से लाए?"

"उस बात को छोड़ो। जब से दिल्ली में नौकरी करने गया हूँ, तब से रुपयों की ढेरी तक पहुँच गया हूँ। शुरुआत में जब बोरे में भरे रुपये देखे, तो लगा कि ये छपी हुई कागज की गड्डियाँ हैं। लेकिन कुछ ही दिन में रुपये को साधने की कला आ गई। अब तो दिन भर में लाख रुपये हँसते-खेलते कमा लेना कोई बड़ी बात नहीं लगती। लेकिन अब उस काम से मन उचट गया है। अब एक ही इच्छा है, इंसान बनकर गाँव में रहूँ।"

"मुझसे क्या कहना चाह रहे हो?"

"अभी तो सब पूजा में व्यस्त हैं। पूजा के बाद मदद करना। मैं एक लाख रुपये लेकर आया हूँ। हमारे अपने आदमी को अगर जरूरत हो, तो बिना ब्याज के सँभालने को तैयार हूँ, बस शर्त यही है कि वह रुपए को घुमा-फिराकर काम में लगाए। साथ ही तुमसे भी कहता हूँ कि पैसों के कारण पूजा में कोई कमी न

रह जाए।”

जोगिन्दर की बातें सुनकर मंगल के मन में एक तरह की उथल-पुथल मच गई। एक मन कह रहा था कि पैसे के कारण ही अच्छे-अच्छे काम पीछे रह जाते हैं, अब ऐसा नहीं होना चाहिए। फिर सोचते कि कहीं किसी डकैत या अपराधी की चाल में तो नहीं फँस रहे हैं! जोगिन्दर को अब तक एक सीधा-सादा, प्रवासी आदमी ही समझते रहे थे। विदेश (दिल्ली) में क्या करता था, यह पता नहीं था। अब तो खतरनाक आदमी लग रहा है, कहीं कोई तस्कर या हवाला कारोबारी तो नहीं?

संकोच और संदेह के बीच उलझते हुए मंगल ने पूछा- “इतना पैसा कहाँ से लाया?”

मंगल का सवाल सुनकर जोगिन्दर सतर्क होकर चारों ओर देखने लगा। जब कहीं कोई नहीं दिखा, तो धीरे से फुसफुसाते हुए बोला- “भैया, जहाँ मैं नौकरी करता था, वह बहुत बड़ा व्यापारी है। उसके हजारों नौकर-चाकर हैं। दिखावे का कारोबार अलग, छिपाकर किया जाने वाला कारोबार अलग। विदेशी करेंसी का लेन-देन करता है। किस देश के लोग कौन रंग के नोट लाते हैं, सबकी पहचान मुझसे करवाई जाती थी। लेकिन सेठ को मुझ पर गजब का भरोसा था। हरदम अपने पास ही रखता था। चाय-नाश्ते से लेकर सारी देखरेख मैं करता था।

रात के तीसरे पहर एक आदमी गाड़ी से आता, और दिन भर जो भी विदेशी मुद्रा जमा हुई होती, वह सब लेकर चला जाता। कोई हिसाब-किताब नहीं, बस पासबुक पर रुपए चढ़ा देता। सेठ को जब और जितने रुपए की ज़रूरत होती, मैं ही बैंक से जाकर लाता था।”

जोगिन्दर की बात सुनकर मंगल के चेहरे से रंग उड़ गया। बीच में ही बोल पड़े- “दिल्ली जैसे शहर में सी.आई.डी. और पुलिस कुछ नहीं कहती?”

हँसते हुए जोगिन्दर बोला- “सबको महीने की रिश्वत बंधी हुई है।”

यह सुनते ही मंगल के मन पर निराशा का काला बादल छा गया। ऐसा लगा जैसे चारों ओर अंधकार ही अंधकार है। मन भारी हो गया। सोचने लगे, ‘केकरा पर करूँ सिंगार, पिया मोरा आन्हर रे!’ जिस देश की शासन व्यवस्था

कमजोर हो, उसकी रक्षा कौन कर सकता है, ईश्वर भी नहीं!

भीतर-भीतर डरते हुए, पर अपने को संयत करते हुए मंगल ने पूछा- “तू अभी भी उसी सेठ के पास है क्या?”

जोगिन्दर बोला- “दस साल तक उसके पास रहकर सब कुछ देख और समझ लिया। अब उसका साथ छोड़ने का मन बन गया था, पर नौकरी छोड़ना मुनासिब नहीं लगा। उससे कहा कि माँ बहुत बीमार है, इलाज कराना है, कुछ पैसे एडवांस में चाहिए। सेठ दिन भर शराब पीता था, पता नहीं चलता था कि क्या कर रहा है।

तभी मन में आया, जैसे ये सेठ दुनिया को ठग-ठगकर पैसा बटोरता है, वैसे ही मैं क्यों न इसे ठगूँ? एक मेडिकल शॉप से ज़हरीली नींद की दवा खरीदी और शराब की बोतल में मिलाकर दे दी।

शाम आठ बजे जब उसने शराब मँगवाई, तो वही बोतल दे दी। साथ ही यह भी कहा कि मुझे गाँव की गाड़ी सुबह चार बजे मिलनी है, इसलिए रात में ही निकलना होगा। वह बोला, ठीक है।

फिर मैं उसकी पत्नी के पास गया और कहा कि मैं गाँव जा रहा हूँ। फिर सीधा थाने गया और सबको बता दिया कि मैं सुबह गाँव चला जाऊँगा। वहाँ सब लोग मुझे पहचानते थे।

घूमकर जब वापस आया, तो देखा सेठ बेसुध पड़ा है। खाना खाया, और फिर सिरहाने के नीचे से चाबी निकालकर पैसे वाले कमरे का ताला खोला। हे भगवान! पूरा कमरा रुपयों से भरा था। एक मझोले बैग में रुपए भरकर ताला फिर से बंद कर दिया और चाबी वहीं रख दी।

अपना जो नेपाली रेक्सीन का बैग था, उसमें रुपयों वाला बैग और कुछ कपड़े-लत्ते रख लिए। रात के बारह बजे, जब सड़क सुनसान हो गई, तो एक टेम्पो पकड़कर ममियौत भैया के पास चला गया।

भैया बहुत समझदार हैं। उन्होंने कहा, जब रुपए हाथ लग ही गए, तो फिर डर किस बात का? बस, वही पैसा है ये।”

जोगिन्दर की बात सुनकर मंगल बोले- "तो फिर आगे क्या योजना है?"

जोगिन्दर- "मन में है कि दस कट्ठा घर के लिए और पाँच बीघा उपजाऊ खेत खरीदूँ। दस कट्ठा घर की ज़मीन को चारों ओर से पक्के दीवार से घेर दूँ। बीच में डेढ़ कट्ठे में चौबारे वाला घर और आँगन बनवाऊँ।

दो कट्ठा में तालाब खुदवाकर मछली पालूँ। दो कट्ठे में फलदार वृक्ष लगाऊँ। बाकी बचा ज़मीन सब्जी, धान, गेहूँ और अन्य खेती के लिए रखूँ। जो भी काम हो, समय से पहले करके रखूँ।"

जोगिन्दर के विचार सुनकर मंगल के मन में आशा जगी। बोले- "देख ही रहा है, बथनाहा में अवधिया लोग हैं। उनके पास बहुत ज़मीन है। उनमें से एक आदमी बैंक में नौकरी करता है, कद-काठी दुबली है। अकेला नौकरी करेगा या खेती?

सारी ज़मीन बँटाई पर लगा दी है। उसके पास गाँव में दस बीघा ज़मीन है। अगर चाहो तो दसों बीघा खरीद सकते हो। अभी तक उसकी ज़मीन इसलिए बची हुई है क्योंकि वह एकमुश्त सब बेचना चाहता है। नहीं तो अब तक बिक ही चुकी होती।

लेकिन एक बात पूछता हूँ, अब तक जो तुम्हारी जिंदगी रही, वह मुझसे एकदम विपरीत रही। तुम ही बताओ, हम दोनों के बीच यह रिश्ता कितने दिन चलेगा?"

मंगल के सवाल पर जोगिन्दर अवाक् रह गया। कुछ पल चुप रहने के बाद बोला- "मंगल भैया, तुम्हारा संदेह बिल्कुल सही है। मुझे भी लगता है कि मैं दस लोगों के बीच किसी मुखौटे के साथ जी रहा हूँ। लेकिन सच कहता हूँ, अब खुद अपनी जिंदगी से मन ऊब चुका है। हर वक्त लगता है न जाने कब सड़क पर घूमेंगे और कब जेल पहुँच जाएँगे।

हालाँकि सड़क के सिपाही से लेकर पैसेवाले लोगों तक सब हमें जानते हैं, लेकिन सब रिश्वतखोर हैं। कभी-कभी जब नींद में सपना आता है, तो देखता हूँ कि चारों ओर बंदूकधारी सिपाही ने घेर लिया है और मुझे हथकड़ी लगाकर जेल ले जा रहे हैं! कभी लगता है कि मैं आगे की ओर बढ़ रहा हूँ, लेकिन अचानक

ही किसी अंधे गड्ढे में तेजी से गिरता चला जाता हूँ! चैन से जीना मुमकिन नहीं रहा..।”

बोलते-बोलते जोगिन्दर की आँखें छलछला आईं।

दुनिया के इस मोह और भय को देखकर मंगल का मन भी पिघलने लगा। उसे लगा कि मनुष्य में एक अद्भुत शक्ति होती है जो उसे पल भर में बदल सकती है, डकैत से महात्मा बना सकती है, और महात्मा से डकैत भी। इसलिए किसी मनुष्य के बारे में कोई अंतिम बात नहीं कही जा सकती, वह नापने से परे है। फिर भी, एक बहुत गहरी खाई जैसी दूरी समझ में आती है।

मंगल सोचने लगे, मुझे तपस्या में विश्वास है, जब जीवन इस कदर उलझा हुआ हो। उम्र में चाहे ज्यादा फर्क न हो, लेकिन जीवन तो दो विपरीत दिशाओं में बह रहा है।

उन्हें अपनी मातृभूमि की एक घटना याद आई। उनका गाँव कोसी और कमला नदियों के बीच स्थित था। गाँव के बीचोंबीच बहुत बड़ा बाँस का जंगल था। उस जंगल में एक बीट बहुत गहराई में था, जहाँ बड़े-बड़े बाँस होते थे, चालीस-चालीस हाथ लंबे।

एक बार बाढ़ आ गई। नदियाँ उमड़ पड़ीं और गाँव को डुबो दिया। लोग मवेशियों समेत गाँव छोड़कर रिश्तेदारों के पास चले गए, सोचकर कि कार्तिक में लौटेंगे। उस बाढ़ में वह बाँस का बीट भी डूब गया। दस-बारह हाथ पानी था वहाँ। लेकिन चमत्कार यह हुआ कि वही बीट ऊपर से दस-बारह हाथ और उग आया, उसमें कोंपलें भी फूट आईं! जिसे उन्होंने खुद अपनी आँखों से देखा था।

यही सोचते हुए मंगल ने निश्चय किया, अगर मनुष्य सचमुच ठान ले, तो जीवन की दिशा मोड़ी जा सकती है। लोग अपने परिवार के लिए चोरी, डकैती, बेईमानी, और शैतानी तक करते हैं। लेकिन मैं तो एक गिरे हुए आदमी को उठाना चाहता हूँ।

उनके मन में प्रसन्नता जागी। मुस्कुराते हुए बोले- “भैया, जिस तरह तुम दरवाजे पर आकर मदद माँगे, उसी तरह मेरी भी जिम्मेदारी बनती है कि तुम्हारी मदद करूँ। लेकिन आज तक कोई अधर्मी काम नहीं किया, इसलिए उसे निभाना

भी होगा।”

मंगल की बात उनके पिता गणेशी ने भी सुन ली। वे अभी-अभी बखरी में लकड़ी काट रहे थे। वे हाथ में कुल्हाड़ी लिए पास आ गए और बोले- “बेटा, तीस साल पुरानी एक बात सुनाता हूँ। उस समय मैं जवान था। मूँछ-दाढ़ी आने लगी थी। माँ-बाबू दोनों जीवित थे। कार्तिक का ही महीना था। दोपहर के तीन बजे होंगे, माथे पर गठरी लिए नाना गाँव में हाँफते-फुफकारते पहुँचे।

आते ही माँ से बोले- ‘माई, गंगा स्नान को जाना है। गाँव के बहुत लोग जा रहे हैं। सबको कह दिया है कि स्टेशन पर भेंट होगी। तब तक थोड़ी देर सुस्ता लूँ, तुम भी तैयार हो जाओ। खाने-पीने का सब इंतजाम है, कोई चिंता की बात नहीं है।’

नाना की बात सुनकर माँ चुप हो गई। एक दिन पहले ही गाय ने बछड़ा जना था। ऐसे मामलों में माँ बहुत सतर्क रहती थी।

माँ के मन में दो बातें टकरा रही थीं, एक ओर गंगा स्नान की महत्ता और दूसरी ओर अगर गाय को कुछ हो गया तो नौ महीने की मेहनत डूब जाएगी। दूसरी बात ये कि नाना अकेले नहीं जा रहे थे, गाँव-घर के लोग, स्टेशन की भीड़, अगर कहीं किसी से भेंट न हुई तो क्या होगा?

इसी असमंजस में थी माँ। तभी बाबू भी आ गए। उन्होंने पैर छुए और चुपचाप एक ओर खड़े हो गए। माँ कुछ बोल रही थी, न बाबू कुछ बोले। नाना तो अपनी बात कह ही चुके थे, इसलिए वे भी चुप थे।

हम तीनों की चुप्पी देखकर उन्होंने कहा- ‘नाना, पैर धो लीजिए।’

नाना बोले- ‘नहीं-नहीं, पैर नहीं धोऊँगा। ट्रेन का समय हो रहा है।’

माँ समझाते हुए बोली, ‘बेटा, छोड़नेवाला कोई नहीं है। नन्ना (तुम्हारा बेटा) साथ चला जाए।’

मन तो मेरा भी था, लेकिन बीच में बोलना ठीक नहीं लगा, इसलिए चुप रहा। वैसे भागवत कथा में एक प्रसंग सुना था कि गंगा ऐसी विशाल धारा है जिसमें दुनिया भर के मनुष्य, चिट्टी-पिपरी तक समा जाएँ, फिर भी वह खाली

ही रह जाए।

बस, उसी को देखने की जिज्ञासा थी। मैं नाना के साथ निकल पड़ा। जब हम दोनों गंगा में नहाने उतरे, तो नाना ने टोका,

'नाति, मन में गंगा से कहो कि आज से झूठ नहीं बोलूँगा।'

मैंने मन-ही-मन ऐसा कहा और गोता लगा लिया।

दो साल बाद बाबू का देहांत हो गया। घर का उत्तराधिकारी मैं बना। बाबू के जाने के बाद माँ भी बीमार रहने लगी। लेकिन मुझे काम करने की सारी समझ थी, इसलिए कभी किसी काम में परेशानी नहीं हुई।

दक्षिण टोला में सरूप रहता था। उसके पास दस बीघा खेत था। लेकिन था बड़ा फुर्सतिया। लल्लू बाबू की तरह बस दिन भर घूमता रहता। ताश खेलने बैठ जाता, तो आधी रात तक खेलता ही रहता। गाँव वालों को बहलाने-फुसलाने में माहिर था..।

वह आदमी इतना चालाक था कि पर-परौसी के बीच ऐसी गाँठ डाल देता था कि बात मारपीट तक पहुँच जाती। साथ ही वह कोर्ट-कचहरी में दलाली भी करता था। दस बीघा खेत होने के बावजूद दो महीने तक घर से खाता नहीं था। खुद कोई काम नहीं करता और न ही उसके पास खेत जोतने को बैल थे। जो लोग आपसी झगड़े में उलझे रहते, उन्हीं के बैल से खेत जोतता और उन्हीं को फुसला-ठगकर अपना गुजारा करता।

जिससे जो चीज़ लेता, उसे उलझाकर वापस नहीं करता, और उसका नाम तक नहीं लेता। एक दिन वह हमारे यहाँ आया और बोला- "गणेश, सुना है तुम चावल बेचते हो?"

मैंने कहा- "हाँ।"

बोला- "एक मन चावल की ज़रूरत है।"

मैंने कहा- "ठीक है। किसी को भेज दो, या खुद ले जाना चाहो तो खुद ले जाओ।"

चावल तौलकर ले गया। जाते-जाते बोला- "तुमसे उधारी की बात करने

की ज़रूरत नहीं है। जब हाथ में पैसा आएगा, तभी दे दूँगा।"

मैंने कहा- "ठीक है।"

छह महीने बीत गए, न पैसे दिए, न कोई तगादा किया। एक साल बीत गया। दूसरे साल फिर वही किया। तीसरे साल भी वही। अब झूठ कैसे बोलता कि चावल नहीं है? पैसे के कारण खुद का काम भी पेंडिंग रहता। जब अपने ही काम में बाधा आने लगी, तो मन में आया, कमाते हम हैं और खाते हैं ललबबुआ! यह तो साफ़-साफ़ गला काटना हुआ! तब सोचा कि अब अगर वह फिर माँगने आएगा, तो साफ़ मना कर दूँगा, कह दूँगा कि नहीं है। लेकिन फिर याद आया कि बीच गंगा में डुबकी लगाते समय मैंने संकल्प लिया था कि झूठ नहीं बोलूँगा, तो फिर झूठ कैसे बोलूँ? बहुत ही विचित्र स्थिति हो गई।

हारकर झूठ बोलना पड़ा। लेकिन अब मैं एक बात ज़रूर करता हूँ, जो झूठा है, उसी से झूठ बोलता हूँ, और जो सत्य बोलनेवाला है, उसके साथ सत्य ही रखता हूँ।

इसलिए, बेटा, तुम सब जवान हो, सोच-समझकर कदम उठाना। जैसे दुनिया में बड़े-बड़े लोग हैं, खेत-खलिहान, नदियाँ, पहाड़-पठार, समुद्र सब जगह हैं, वैसे ही मनुष्य भी वैसा-वैसा ही होता है।

एक ही कुम्हार के बनाए घड़े में पानी पीनेवाला भी है और नाले में फेंकने लायक भी। लेकिन दोनों देखने में एक जैसे ही होते हैं! ❑

दो

अमावस्या का दिन। आज शाम को दीवाली और रात में काली-पूजा होनी है। अब तक काम-काज में जो उत्साह था, वह ठहर गया है। काम भी अंतिम रूप में पहुँच चुका है, समेटा जा चुका है। जैसे पूरे साल की पढ़ाई के बाद परीक्षा का अंतिम दिन आता है, वैसा ही दृश्य है। कल तक काम तेजी से चलता रहा। जिस दिन जैसा काम, उस दिन वैसी ही रफ्तार। लेकिन आज तो अंतिम दिन है, इसलिए उल्टी गिनती जरूरी है, कहीं कुछ छूट तो नहीं गया है? अगर छूट गया होगा, तो पूजा में विघ्न आएगा। इसीलिए पूजा समिति की बैठक सुबह सात बजे ही बुला ली गई।

आठ ही दिनों में गाँव की चहल-पहल बदल गई। जैसे हरोथ बांस की जड़ तो मोटी होती है, पर बीच की गांठ पतली और आगे जाकर फिर मोटाई आ जाती है, वैसा ही बँसपुरा में लगा। जब पूजा की तिथि दूर थी, तब काम बहुत; और जब पास आई, तो काम घट गया। कल से ही गाँव की बेटियाँ, बहनें आने लगी हैं। वैसे तो गाँव के लोग अपने-अपने रिश्तेदारों को पहले ही बुला चुके थे, लेकिन दिवाली ने उन्हें आने में बाधा डाली थी। दिवाली के दिन घर में कोई न रहे, तो भूत-प्रेत का डर मन में रहता है, खासकर महिलाओं में, और इस बार तो सुनाई दे रहा है कि बात और भी गंभीर है। इसलिए जो महिलाएँ अकेली हैं, वे भरदुतिया की तिथि पकड़कर दिवाली के लिए मायके आ रही हैं। लेकिन जिनके घर में सास या जेठानी हैं, वे एक दिन पहले ही आ रही हैं। आखिर नैहर है! कब से माँ-बाप, भाई-भाभी और गाँव की सहेलियों से भेंट नहीं हुई है! वैसे भी जिनके मायके का परिवार बड़ा है, वे तो साल में दो-तीन बार आ ही जाती हैं। लेकिन जिनके परिवार छोटे हैं, कम कामकाज है, वे तो दस-दस साल से नैहर का मुँह नहीं देखी हैं।

गाँव का सौभाग्य है कि काली-पूजा शुरू हुई। लेकिन एक अजूबा यह हो

गया कि गाँव की बेटियों से अधिक ससुराल की महिलाएँ, साइर-सरहोजि आ गईं। इनके आने से गाँव की रौनक ही बदल गई। जिससे लड़कों से लेकर बूढ़ों तक के चेहरे पर चवन्नी मुस्कान दौड़ गई। उसमें भी जब प्रवासी ससुरालवाले आ गए, तब तो और भी रंग चढ़ गया।

दुख के दिन अब गाँव से कट गए। अब सुख के दिन आए हैं। क्योंकि जो आठ दिन बीते, वे ऐसे बीते कि न खाने का ठिकाना था, न सोने का। लेकिन अब तो गाँव के लोग मेहमानों के साथ खुद भी मेहमान बन जाएँगे। मर्दों की क्या बात करें, औरतें ही सबसे ज्यादा प्रसन्न हैं! जब रसोई वाली ही आ गई, तो फिर अच्छा-अच्छा खाना, दिन-रात तमाशा देखना, इससे बड़ा सुख क्या होगा! इससे भी बड़ी बात यह कि पूरे मेले में किसी को उधार-पट्टा लेने की जरूरत नहीं होगी और न ही दुकानदारी की झंझट! क्योंकि दो दिन पहले ही सबने अपने-अपने काम सहेज लिए थे। महाजनों की बही-खाता बंद रहेगी। हाँ, दीवाली की बही जरूर महाजन को कसक दे रही है। चाहे जितनी धूमधाम हो जाए, दूध-दही, मछली-मांस की कोई कमी नहीं होगी। पाँच दिन पहले ही सुधा डेयरी के एजेंट और मांस-मछली के व्यापारी को एडवांस दे दिया गया है। फिर काली-पूजा है, बिना बलि दिए पूजा कैसे होगी! बँसपुरा की औरतें इतनी अनाड़ी नहीं हैं कि जोड़ा बकरा पहले से न कबूल कर रखी हों।

यह पहली बार की पूजा है। बिना नए वस्त्रों के पूजा कैसे होगी, और बच्चे मेले में क्या देखेंगे! अगर ये न हो, तो क्या यह देवी का अपमान नहीं होगा?

जहाँ काली-मंडप बना है, वह आठ-दस कट्ठे की परती ज़मीन है। वह भी आम की ज़मीन। जिससे एक पैर से लेकर खुर वाले जानवर तक आते-जाते रहे हैं और रास्ता बन गया है। उस परती के उत्तर-पश्चिम कोने में लोग टूटे-फूटे मिट्टी के बर्तन और पुराने कपड़े फेंकते रहे हैं। पूरब-उत्तर कोने में बच्चे शौच करते रहे। दक्षिण-पश्चिम भाग में चरवाहे घास के बहाने खेलते हुए कई गड्ढे खोद डाले, और दक्षिण-पूर्व कोने में कबड्डी और गुड़ी-गुड़ी के खेल में घर बना दिए।

काली-पूजा के आने से पूरी परती छील-पोंछकर एकरूप हो गई है। जिस तरह का मेला लगने वाला है, उस हिसाब से यह जगह अब भी थोड़ी कम लग

रही है। लेकिन अब जब धूप का समय आया, तब तक परती के चारों ओर के खेतों का धान पक चुका था, जिसे काट-काटकर सबने पहले ही मवेशियों को खिला दिया था, इसलिए मेले के लिए जगह की कोई कमी नहीं रह गई।

पंद्रह बीघे से ऊपर की ज़मीन पर की गई खेतों की मेड़ें तोड़कर चट्टानों जैसा मंच बना दिया गया है। अगर यह पहले से न बनवाया गया होता, तो मुज़फ्फरपुर वाली उस नाटक मंडली का समायोजन कैसे हो पाता? क्योंकि उस पार्टी में बाजा बजाने से लेकर पुरुष पात्र निभाने तक सभी कलाकार महिलाएँ ही हैं, संगीतकार भी केवल महिलाएँ हैं। तो क्या उस मंडली को देखने के लिए पड़ोसी गाँव के लोग नहीं आएँगे? ज़रूर आएँगे। इसलिए कम से कम पाँच बीघे की खुली जगह तो होनी ही चाहिए थी, जो अब मिल चुकी है।

इसके ऊपर वृंदावन का रासलीला भी है, जो नाटक से किसी तरह कम नहीं। एक से बढ़कर एक कलाकार हैं। भारी-भरकम शरीर, हाथ भर लंबी दाढ़ी और केश लेकर वे अभिनय करेंगे और नाच भी करेंगे। इसलिए दर्शकों की कमी तो रहने वाली नहीं है। मेल-फीमेल कव्वाली के साथ 'महींसोथा की मलिनियों' का नृत्य भी है। एक से एक रंग जमाने वाली प्रस्तुतियाँ होंगी। तो क्यों न धमाकेदार मेला लगे!

पूजा समिति के सदस्यों के मन में खुशी है, पर एक शंका भी है, इतने बड़े मेले को सँभाला कैसे जाए? चाहे जितना गाँव वाले जी-जान लगाएँ, लेकिन लफंगे लड़के तो कुछ न कुछ गड़बड़ करेंगे ही। जेबकतरे भी सक्रिय हो सकते हैं। पर क्या किया जाए, मेले-ठेले में यह सब थोड़ा-बहुत होता ही है। कौन किसे देखेगा और किसकी सुनेगा? उसमें भी यदि बारिश हो गई तो!

दुकानों की व्यवस्था भी कमाल की है। दोनों तरह की दुकानें, नई और पुरानी। नए सामान की दुकानें 'न्यू मार्केट' के नाम से एक ओर हैं, दूसरी ओर पुरानी बाजार की शक्ल में सज चुकी हैं। हालांकि अभी तक सभी दुकानें पूरी तरह सजी नहीं हैं, लेकिन जैसे-जैसे समय आएगा, सब सज जाएँगी।

'न्यू मार्केट' की चमक-दमक कुछ अलग ही है, जिसमें बिना देखे भी लग रहा है कि सामान बहुत है। दुकानदार भी स्टाइल से खड़े हैं। ऐसी-ऐसी सुंदर

चूड़ियाँ इस इलाके के लोगों ने शायद ही पहले देखी हों, वैसी दुकानें आ गई हैं। देखने वालों की आँखें चौंधिया जाएँगी। और क्यों न चौंधियाएँ? अब तक तो देखा था कि चूड़ियाँ महिलाएँ ही बेचती थीं, इस बार देखेंगे कि पुरुष भी बेच रहे हैं। ऊपर से ऐसी तस्वीरें दुकान के अंदर-बाहर चिपकाई गई हैं कि भीड़ स्वतः खिंचती चली आएगी। असली इंसान है या नकली, यह कौन पहचानेगा? तस्वीर ही नहीं, गीतों के लिए ऐसे-ऐसे साउंडबॉक्स लगाए गए हैं कि सब कुछ भूल जाना पड़ेगा।

चूड़ी बाज़ार के बगल में चेस्टर (सूटिंग कपड़ा) की दुकान है। वह भी चूड़ी बाज़ार से कम नहीं। कल ही से ऐसे प्रचार के उपकरण लगाए गए हैं कि कोई समझ ही नहीं पाएगा कि बोल रहा है आदमी या मशीन। प्रचार भी चुटीले अंदाज़ में, सिर्फ वस्त्र ही नहीं, पहनने का ढंग भी सिखा रहे हैं। धन्यवाद उस डिजाइनर को, जिसने हाथी जैसे मोटे शरीर से लेकर दुबले-पतले शरीर तक एक ही डिज़ाइन में फिट हो जाने वाला चेस्टर बनाया है। उसमें भी ऐसे डिज़ाइन हैं कि एक पहन लो, तो दूसरा बदलने की जरूरत ही न पड़े। जिसके पास पैसा है, वह एक से क्यों मानेगा? वह तो कई की खरीद करेगा। बिलकुल ऑटोमैटिक! और कीमत भी बहुत ज्यादा नहीं रखी गई है, ताकि बिक्री में कोई रुकावट न हो, सिर्फ ग्यारह रुपये। व्यापारी भी ऐसे कलाकार हैं कि पहले ही भाँप लेते हैं, कौन-सा माल चलेगा।

चेस्टर की दुकान के बगल में खिलौनों का बाज़ार है। वाह! खिलौने बनाने वाले और निवेश कर व्यापार करने वाले धन्य हैं। दस रुपये से लेकर हज़ार रुपये तक के खिलौने! बंदूक, तोप, रॉकेट, हवाई जहाज़ के साथ बम जैसे खिलौनों से दुकानें भरी पड़ी हैं। देखने में असली लगते हैं, लेकिन नकली हैं। वैसे असली जैसे ही गोली चलती है, आवाज़ भी आती है और उड़ते भी हैं।

तीन दाढ़ी-कटिंग वाले 'बम्बइया स्टाइल' सैलून भी आ गए हैं। तीनों में महिला नाई! पुरुषों जैसे रूप में, लेकिन उनसे ज्यादा फुर्तीली और बातचीत में भी तेज। दाढ़ी बनवाते समय पहचान ही नहीं पाएँगे कि उल्टा हाथ चला या सीधा। हाथ भी पुरुषों जैसे, लेकिन थोड़ा अधिक मुलायम।

सैलून के बगल में साड़ी का बाज़ार। साड़ियाँ भी अनोखी तरह से टाँगी गई हैं। रेशमी कहकर बिकने वाली दरअसल रेशम नहीं, पर पाटुआ की तरह खड़खड़ करती हैं। कहीं कोई ओच नहीं, एकदम चिकनी। ऐसे पटोरे रखे हैं कि समझ में ही नहीं आता कि ये भागलपुरी रेशम है या सस्ता माल। प्लास्टिक के पुतलों को ऐसे सजाया गया है कि लगता है आँखों के इशारे से दुकान पर बुला रहे हों।

राम-हिलोरा, मौत का कुआँ, हेलीकॉप्टर, हवाई जहाज़, रेलगाड़ी, दिल्ली चौक की चार पहिया और छह पहिया गाड़ियों की दौड़, सब मौजूद हैं।

जब 'न्यू मार्केट' घूम लिए, तो पुरानी बाजार भी घूमिए। किसी ने छप्पर की दुकान बनाई है, तो किसी ने फट्टों पर बाती के कोरे को प्लास्टिक से ढककर घर बना दिया है। कोई तिरपाल टाँगे है, तो कोई यूँ ही घैला, डाबा आदि मिट्टी के बर्तन पसारे है। दुकानदार भी पूरे ग्रामीण हैं। अरे! ये तो पहचाने हुए दुकानदार हैं। पहली दुकान तो उस झुनझुना वाले बूढ़े की है। चालीस साल से भी अधिक समय से झुनझुना बेचता आ रहा है। अब तो बूढ़ा भी हो चला है, फिर भी देखो, पति-पत्नी दोनों बैठकर ताड़ के पत्ते से झुनझुना बना रहे हैं और खजूर के पत्ते की पट्टियाँ, बियैन भी सजाए हैं!

"क्या तुम्हें थोड़ा-बहुत याद है, झुनझुना बेचने वाले को?"

"बेटा, चश्मा लगाए हूँ, इसलिए थोड़ा पहचान में नहीं आ रहा हूँ। पहले चश्मा नहीं लगाता था। आँखें भी ठीक थीं। दो साल पहले आँखें खराब हो गईं, इस बार लहान में चश्मा बनवाया।"

लेकिन झुनझुनावाली गौर से देखती हुई बोल पड़ी- "बेटा, क्या तू सोनमा है? जब से तू परदेश कमाने गया, तब से नहीं देखा। तू मुझे पहचानता है?"

"नहीं।"

"तेरा मामा का घर और मेरा मायका पास-पास ही है। हम अंगने-अंगने झुनझुना और बियैन-पट्टी बेचते हैं। उसी से गुजर-बसर करते हैं। अब तो भगवान ने सब कुछ दे दिया है। दो बेटे और बहुएँ हैं। सात पोता-पोती हैं। दोनों बेटे घर बनाने का काम करते हैं, राजमिस्त्री हैं। खूब कमाते हैं। अब तो अपना भी पक्के

ईंट का घर बन गया है। मगर हम दोनों जीवन भर यही काम करते आए हैं। अब कुछ और करें तो कैसे निभेगा? वैसे दोनों बेटे मना भी करते हैं। पर हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहना अच्छा नहीं लगता। इसलिए जब तक जिएँगे, करते रहेंगे। तेरी माँ से बचपन से बहनापा रहा है। जब भी तेरे घर की ओर जाती हूँ, तो बिना खिलाए जाने नहीं देती। माँ से कह देना कि मेरी भी दुकान मेले में लगी है। तुम्हारा बच्चा कितने साल का है?"

"एक ही है।"

"तो यह एक झुनझुना बेटे के लिए ले जा।"

"ऐसे ही नहीं लूँगा मौसी। अभी मेरे पास भी पैसे नहीं हैं और आपकी दुकान भी नई-नई लगी है। बिक्री शायद अभी शुरू नहीं हुई होगी।"

"अरे, बहू की शुभकामना उसी में होती है जो थोड़ी बहुत मनुहार करे। मैं तो यह अपने पोते को देने जा रही थी। तो यह बहू का काम है। लो, ले जाओ।"

दूसरी दुकान रमेसर की थी, लोहा और लकड़ी के सामान की। हँसिया, खुरपी, टांगी, पगहरिया, कुरहैर, खनती, चाकू, सरौता, छोलनी के साथ चकला, बेलन, कत्ता, रेही, दायब, खराम, बच्चों की तीन पहिया गाड़ी आदि की दुकान सजी थी। रमेसर अकेले दुकान के खंभे से पीठ टिकाए, टाँगें फैलाए बीड़ी पी रहा था। मैंने पूछा-

"रमेसर भैया! सुना था तुम भी दिल्ली चले गए थे?"

"धत्त! बकवास मत कर, दिल्ली कोई हौवा है क्या? जैसे लोग कहते हैं न कि दिल्ली का लड्डू, जो खाए वह भी पछताए, और जो न खाए वह भी। दिल्लीसेट लोगों को फुलपैंट, चमचमाती शर्ट, घड़ी, रेडियो, उलटे बाल देखकर मेरा भी मन मचल गया। गाँव में किसी से कुछ कहे बिना चल पड़ा। अपने ही जात-बिरादरी के यहाँ नौकरी मिल गई। तीन हजार रुपये मासिक वेतन और खाने का भी इंतज़ाम था। लेकिन वहाँ इतना खटना पड़ता था कि वही मेहनत अगर गाँव में करता तो कहीं ज्यादा कमाई होती। घूमकर वापस आ गया।

जब सुना कि अपने गाँव में काली पूजा का मेला लगने वाला है, तभी से

इतना सारा सामान तैयार किया है। किसी तरह चार-पाँच हजार का माल बना रखा है। कोई ऐसा थोड़े है जो सड़-गल जाएगा। तुम लोग समझते हो कि हमने दिल्ली में कोई खजाना गाड़ रखा है! मैं तो एक महीने में ही समझ गया। जब खुद से चीज़ें बनाने की काबिलियत है, तो दूसरों की नौकरी क्यों करूँ? अपनी मेहनत से मालिक बनकर क्यों न रहूँ? तुम लोग तो दूसरों की कोठी और दौलत को अपनी समझते हो। लेकिन असल में यह समझो कि ये अमीर लोग तुम्हारी ही मेहनत को लूटकर मज़े कर रहे हैं। चलो, अब थोड़ा दुकान सँभाल लूँ।"

आगे बढ़ा। "अरे! यह तो रौदिया भैया की चाय की दुकान लगती है। भैया, आपने खुद की दुकान खोल ली?"

"हाँ, बेटा। गाँव का मेला है। इसकी भीड़-भाड़ तो गाँववालों पर ही पड़ेगी। वैसे ही टहलते-घूमते रहते, इससे अच्छा नहीं कि कुछ पैसे भी कमा लूँ और मेले की रौनक भी देख लूँ।"

"बहुत अच्छा किया। बर्तन तुम्हारे ही थे?"

"नहीं। रघुनाथ से बात की तो उसी ने अपने पुराने बर्तन दे दिए।"

"रघुनाथ की दुकान तो अब बड़ी स्टैंडर्ड हो गई है।"

"हाँ, उसकी दुकान की बदौलत ही तो उसने तीनों बेटियों की शादी कर दी और पक्के ईंट का घर भी बना लिया।"

"वाह! बहुत सुंदर, बहुत अच्छा!"

कई छोटे दुकानदारों ने अभी तक छप्पर भी नहीं बनाया था। कार्तिक मास में न तो अधिक गर्मी होती है और न ही ज्यादा सर्दी। फिर बेवजह बाँस-बत्ती खरीदकर घर क्यों बनाते? दो बाँस गाड़कर ऊपर बल्लियाँ रख दी जाती हैं। उसी पर केले के पत्तों की छाया डालकर सामान बेचा जाता है। इसी तरह कचौड़ी-चप, पापड़-फोंफी बेचने वाले तो मिट्टी में चूल्हा खोदकर लोहे की कड़ाही चढ़ा कर सामान पकाते हैं। मूढ़ी पत्ते पर रखकर डिब्बे से नापकर बेचते हैं। झिल्ली बनाने का साँचा सबके पास हो, ऐसा जरूरी नहीं, जो बनाते हैं, वही बना पाते हैं।

झंझारपुर और मधेपुर के दस-बारह दुकानदार आकर मेले की चमक-दमक ही बदल दिए। पहचानने वाले भी वही और दुकानदार भी वही, इसलिए सबसे अच्छी कमाई भी उन्हीं की होगी। नगद और उधारी दोनों चलेंगे। एक पंक्ति में सभी दुकानें बन रही हैं। पितोझिया पेड़ के पास झगड़ा हो रहा है! ज़रा उसे भी देख लीजिए। अरे! यह तो दोनों प्राणी ढोलबा हैं!

"ऐसे क्यों ढोल भाई, आते ही दोनों आदमी ढोल की तरह गूंज रहे हो?"

आवाज़ दबाते हुए ढोलबा ने कहा- "अरे भाई, देखो न इस औरत को! मेले से किसी को हानि-लाभ हो, पर मुझे तो सीजन में ही फँसाया है। आगे छठि है। परगाँव के लोग तो कोनिया, सूप, छिट्टा, डगरी खरीदेंगे ही। उसी हिसाब से सामान तैयार करता हूँ। अब ये कहती है कि कुल मिलाकर तीस छिट्टा-पथिया हैं, अठारह सूप हैं और कुल पचास कोनिया हैं! अब तुम ही बताओ, ऊँट के मुँह में जीरे की फाँकी से काम चलेगा?"

मैंने कहा- "अरे, झगड़ा क्यों कर रहे हो? फिर से ले आओ।"

ढोलबा कुछ गुमसुम हुआ, लेकिन तेतरी तुरंत झपट पड़ी- "इस मरदुआ को एक रत्ती भी अक़्ल नहीं है। इतना भी नहीं समझता कि आठ दिनों में कितना बना सकते थे! दो बच्चे हैं, उन्हें भी सँभालना पड़ता है। ये तो दिन भर बाँस, बत्ती, कैमची की जुगाड़ में ही लगा रहता है। क्या ये बाजार का सामान है जो पैसे देकर तुरंत खरीद लाते?"

ढोलबा बोल पड़ा- "तू नहीं देखती कि महीने में पंद्रह दिन तो काम की वजह से नहाना भी नहीं हो पाता। खुद छाती पर हाथ रखकर बोल, एक दिन भी टटका भात-तरकारी खाया है? डेढ़-दो बजे प्यासे-बेहोश बाँस लाने निकलते हैं, तभी नहाना होता है, वरना नहीं। खाना भी हड़बड़ा कर खाते हैं और तुरंत फिर काम में लग जाते हैं। नीचे से बीड़ी-तमाकू भी नहीं पीता हूँ। खाकर आराम करना किसे कहते हैं, वो तो दिन ही सिखा देता है। तू क्या जाने कि बाँस काटना, छीलना, गूँथना कितना भारी काम होता है। बैठे-बैठे बातें बनाना आसान है। ये तो समझती ही नहीं कि उठना-बैठना करते-करते जाँघें जल जाती हैं। इससे हल्का तो साँझ को डंड-बैसकी करना होता है। इतना काम करने के बाद जाकर

मुख्य काम आता है। बैठकर भी हम काँटा-कैमची ही बनाते हैं। ताड़ी पीता हूँ, तो मन स्थिर रहता है, मूड फ्रेश रहता है। इसलिए कोई काम उल्टा-पुल्टा नहीं होता। वरना कौन कर सकता है कि एक ही दिन में इतने रंग के काम ठीक से निपटा ले। अच्छा चलो, दुकान सजाओ। क्या दुकान सजाना, कोनिया को तीन मेल बना लो। डगरी, सूप तो एक ही प्रकार के हैं, और छिट्टे को दो भाग में बाँट लो, बड़े और छोटे। पाँच रुपये दो, ज़रा ताड़ी पीकर आता हूँ।"

"अभी धूप चढ़ी है। अब जो ताड़ी पीने के लिए पैसे दोगे, तो क्या मुझे गाली सुनने का मन है?"

"अरे हाय, तू बोलते हुए ज़रा भी नहीं शर्माती, कि एक मर्द को ही घर का बोझ दे रखा है। साथी-संगत सदा झिक-झिक करती रहती है।"

"ठीक है, रुपये देती हूँ, लेकिन फिर दोपहर में मत माँगना। जा रही हो तो जा, लेकिन झटपट लौट आना। मेला-ठेला है, अकेली मैं दुकान सँभालूँ या बच्चों को?"

"ये मैं भी जानता हूँ, लेकिन दस दोस्त-महिम हैं। अगर भेंट-घांट हो गया तो क्या हालचाल नहीं पूछूँगा?"

बँसपुर की एक लड़की के साथ जो दुर्व्यवहार सिसौनी के दुर्गास्थान में हुआ था, उस घटना की खबर धीरे-धीरे चारों ओर के गाँवों में फैल चुकी थी। जिसकी चर्चा गाँव-गाँव में होती थी। लेकिन एक स्वर में नहीं। अधिकांश लोग इस घटना की निंदा करते थे, तो कुछ इसे मनोरंजन का विषय समझते। कुछ लोग इसे नए ज़माने का फैशन मानकर चुप ही रहते। लेकिन सबकुछ के बावजूद सिसौनीवाले बँसपुर वालों से डरे हुए थे। ऐसी घटना दोबारा न हो, इसके लिए सिसौनी के बुद्धिजीवी लोगों के मन में हलचल मची हुई थी। सिसौनी के दयानंद दरभंगा कॉलेज में प्रोफेसर हैं। गाँव के लोग उन्हें महज़ एक नौकरशाह समझते हैं, लेकिन कॉलेज में छात्र और शिक्षक दोनों के बीच वे प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं। इस बार वे दुर्गा-पूजा में गाँव नहीं आए थे, संगी-साथी के साथ रामेश्वरम् चले गए थे। मगर उनके बच्चे और पत्नी गाँव में आए हुए थे। वही लोग रामेश्वरम् लौटने के बाद उन्हें इस घटना की जानकारी दिए।

घटना सुनकर प्रोफेसर दयानंद भीतर-ही-भीतर जल उठे। गुमसुम होकर सोचने लगे, यह क्या तमाशा हो गया कि धर्म के कार्य की दौड़ में इतना अधर्म घटित हो गया! कैसे लोगों के मन में धर्म के प्रति श्रद्धा बचेगी? अगर धर्म-स्थल पर ही इस प्रकार की कुत्सित प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होंगी तो ऐसे स्थल कितने दिन तक जीवित रह सकेंगे! फिर कौन माँ-बहन अपने घर से निकलकर देवस्थान पर पूजा या संध्या देने आएगी?

प्रो. दयानंद जितना घटना को दबाना चाहें, उतने ही गहरे प्रश्न मन को झकझोरने लगे। पर जो समय बीत गया, वह तो लौटाया नहीं जा सकता। किस मुँह से उस गाँव में पाँव रखेंगे? लोग क्या कहेंगे? उस गाँव के तो अनेक छात्र उनके पास पढ़े भी हैं और निकल भी चुके हैं। वे सब क्या कहेंगे? लेकिन आगे ऐसी घटना न घटे, इसके लिए तो कोई उपाय किया जा सकता है। पाप तो प्रायश्चित से ही कटता है। वैसे भी अभी-अभी अगुवारे बँसपुरा से काली-पूजा का निमंत्रण-पत्र भी आया है।

ऊहापोह करते प्रो. दयानंद के मन में यह विचार आया कि एक मेंढ़क के मर जाने से लोग कुएँ का पानी पीना नहीं छोड़ते। उसे निकालकर गंध मिटाने का उपाय किया जाता है। बँसपुरा की काली-पूजा की शुरुआत भी सिसौनी की घटना की प्रतिक्रिया के रूप में हो रही है। क्या यह संभव है कि इसी के उत्तर में वहाँ वालों ने भी वही घटना दोहराई हो?

काली-पूजा आरंभ होने के तीन दिन पूर्व प्रो. दयानंद गाँव आए और बिना किसी मान-अपमान की परवाह किए, गाँव के पढ़े-लिखे और अनुभवी लोगों से संपर्क किया। कुछ लोग पहले से ही गाँव की प्रतिष्ठा को समझते थे, और कुछ ने समझाने पर समझा। समझने के बाद सभी ने एक स्वर में गाँव में बैठक कर इसका समाधान निकालने का विचार प्रकट किया। सहमति भी बनी। प्रो. दयानंद के मन में आगे बढ़ने का साहस जाग उठा। साहस जागते ही कॉलेज के छात्रों को बैठक की व्यवस्था का भार सौंपा। दो दिन बीत गए। जिस दिन काली-पूजा आरंभ होनी थी, उसी दिन सुबह सात बजे बैठक रखी गई।

सात बजे से पहले ही दुर्गास्थान पर सभी लोग एकत्र हो गए। वैचारिक

रूप से गाँव दो ध्रुवों में विभक्त हो चुका था। इसलिए सभी अपने-अपने विचार को दृढ़ बनाने में लगे थे। जो लोग घटना में शामिल थे, वे तीनों युवक और उनके पिता बैठक में नहीं आए। उनका न आना विरोध का नहीं, बल्कि शर्म का कारण था। जब से प्रोफेसर दयानंद दरभंगा से आकर गाँव में इस घटना की चर्चा छेड़े थे, तभी से वे मुँह छिपाते फिर रहे थे।

मगर दबी हुई घटना फिर से सतह पर आ गई। वैसे गाँव का एक गुट, जिसे 'कुकर्मी गुट' कहा जा सकता है, बल प्रयोग की योजना अंदर ही अंदर बना रहा था, जिससे गाँव में कोई रास्ता खुल ही न सके। परंतु गाँव का बहुसंख्यक समूह, जो अधर्मिक कार्यों से घृणा करता है, एकमत था। एक समान विचार के पीछे कई प्रकार की सोचें थीं। कुछ लोगों की यह सोच थी कि गाँव में एक ऐसा कुकर्मी समाज है, जो हमेशा कुछ न कुछ करता ही रहता है। वरना पड़ोसी एक-दूसरे को भले ही गाली देते हों, मगर मौके पर सभी एकजुट हो जाते हैं। इसलिए यह घटना एक ऐसा अस्त्र है, जिससे उस समाज को जड़ से उखाड़ा जा सकता है।

कुछ लोगों का विचार था कि जैसे उन तीनों युवकों ने सार्वजनिक स्थान पर ज़ुल्म किया, वैसे ही समाज के सामने उन्हें सज़ा दी जाए। हालाँकि कुछ का मत यह भी था कि हम मनुष्यों के समाज में रहते हैं, न कि जानवरों के। इसलिए एक मानवीय समाज का निर्माण होना चाहिए। भले ही यह समाज निर्माण की प्रक्रिया कठिन हो, फिर भी उसे क्रियान्वित किया जाए।

ललबा का विचार सबसे अलग था, क्योंकि जिस लड़की के साथ दुर्व्यवहार हुआ था, वह उसकी ममियौत बहन थी। ललबा कोलकाता में ड्राइवरी करता है। दुर्गापूजा में गाँव आया हुआ था। जिस दिन यह घटना घटी, वह उसे जान ही नहीं सका। जब से पता चला, तब से उसका शरीर जल रहा था। मन ही मन उसने यह योजना बना रखी थी कि अमीरों की टेरही (गर्व-घमंड) को कैसे कुचला जाता है, यह समाज को दिखा देगा। उसे अच्छा मौका भी मिला था। लेकिन मन में यह शंका भी थी कि अगर दयानंद कक्का आगे आ जाएँगे, तो सारा विचार ही ध्वस्त हो जाएगा। सोचते-विचारते उसने यह निश्चय किया कि

चाहे जो हो, बिना चप्पल चलाए (बिना बदला लिए) नहीं छोड़ेगा, भले ही पूरी जिंदगी जेल में क्यों न बितानी पड़े।

गाँव के सभी टोले के लोग, एक-दो को छोड़कर, बैठक में उपस्थित हुए। प्रोफेसर दयानंद उठकर खड़े हुए और बोले- "इस बार की दुर्गा-पूजा में जो घटना गाँव में घटित हुई, वह समाज के लिए एक गहरा कलंक है। इस घटना की जितनी निंदा की जाए, उतनी कम है। बहुत लोग सोचते होंगे कि वह बाहर की लड़की थी, लेकिन यह सोचना हमारे भीतर की संकीर्ण मानसिकता को दर्शाता है। जिससे आनेवाले दिनों में और भी घृणित घटनाएँ होती रहेंगी, और हम सब मुँह ताकते रह जाएँगे। इसलिए ऐसी घटनाओं को रोकना होगा।"

बीच में जो गुट हंगामा करना चाहता था, वह उठ-उठकर शोर मचाने लगा। जब शोर हुआ तो बाकी लोग भी खड़े हो गए और विरोध करने लगे। ललबा ने प्रोफेसर दयानंद की ओर देखा। दयानंद के चेहरे की मुद्रा तो नहीं बदली, पर आँखें आँसुओं से भरकर काले बादलों की तरह भारी हो गई थीं और वह नीचे की ओर झुका हुआ मुँह लिए खड़े थे। ललबा बिजली की तरह चमका और फुर्ती से झपटकर हमला करने लगा।

तीनों को अकेले ललबा ने पीट-पीटकर धराशायी कर दिया। जब तक सब कुछ शांत हुआ, तब तक तीनों के गाल और मुँह सूज गए थे, मगर ललबा की गर्मी फिर भी कम न हुई। जिस तरह एक बार खून करने वाले के भीतर और खून करने की उत्तेजना उतर जाती है, वैसा ही कुछ ललबा के साथ भी हुआ। पर चारों ओर से लोग उसे पकड़कर खींचते हुए अलग ले गए। दोनों हाथ थामे दयानंद बाबू ने धीमे स्वर में कहा- "अगर समाज में एक भी बेटा अन्याय के विरुद्ध अपने को समर्पित कर दे, तो सैकड़ों बेटे धरती माता की गोद में जन्म लेंगे। मन को शांत करो। वैसे भी समाज की हर समस्या का समाधान केवल मार-पीट से नहीं हो सकता और न ही केवल पंचायत से। क्योंकि समस्याएँ दो तरह की होती हैं, एक, जो किसी विशेष परिस्थिति में घटती है; दूसरी, जो किसी विशेष सत्ता या व्यवस्था की उपज होती है। आज की जो समस्या है, वह व्यवस्था-जनित है, इसलिए ऐसी समस्या को बल से ही रोका जा सकता है। वरना यह किसी न

किसी रूप में चलती ही रहेगी, समाप्त नहीं होगी।”

प्रोफेसर दयानंद की बात सुनकर ललबा बोला- “कक्का! आपसे कुछ बोलते हुए हिचक होता है, नहीं तो इन तीनों का खून पी जाता। चाहे जिंदगी भर जेल में क्यों न सड़ता, या फाँसी पर ही क्यों न चढ़ता। क्या लेकर आए हैं और क्या लेकर जाएँगे? जब मरना ही है, तो क्यों न लड़कर मरा जाए, सड़कर क्यों मरा जाए!”

ललबा की बात सुनकर मुस्कराते हुए प्रोफेसर दयानंद बोले- “अल्हो के गीत में लोग गाते हैं, ‘रण में मरे, दोष नहीं लगे।’ और महाभारत में व्यास बाबा ने कहा है, ‘इंद्रासन का अधिकारी वही होता है जो अन्याय के विरुद्ध रणभूमि में खड़ा होकर अपना बलिदान देता है।’ लेकिन जो कुछ हुआ, वह उचित ही हुआ। इससे आगे मत बढ़ो। अगर इससे बात सुधर जाए, तो बहुत अच्छा, नहीं तो उसके परिणाम कोई और थोड़े ही भोगेगा। तुम यहीं रहो।”

इतना कहकर आगे बढ़ते हुए दयानंद सोचने लगे कि समाज का अध्ययन अभी भी अधूरा है। लोगों का जो मिजाज बन चुका है, वह कभी-कभी बेकाबू भी हो सकता है। इसलिए सबसे कह देना चाहिए कि वे गाँव लौट जाएँ..

कह तो दिया, पर कोई मैदान छोड़ने को तैयार न हुआ। सब जमे रहे। खुद भी अजीब स्थिति में फँस गए। मन में उठने लगा कि सबसे पहले मैं ही कैसे मैदान छोड़ दूँ! पर रुक भी जाऊँ तो लोग मानने को तैयार नहीं हैं। फिर दोहरा कर बोले- “हम सबके परिवार आज से नहीं, बल्कि बहुत दिनों से एक-साथ रह रहे हैं और आगे भी साथ रहेंगे। इसलिए हमें आपस में मिल-जुलकर रहना है। अगर कोई किसी से बुरा व्यवहार करेगा, तो झंझट होना ही है। एक परिवार की लड़ाई गाँव और समाज की लड़ाई बन जाती है। इसलिए झगड़े को रोकने का एक ही उपाय है, कि उस कारण को ही उठने न दिया जाए जिससे झगड़ा पैदा हो।”

इतना कहकर प्रो. दयानंद घर की ओर बढ़ चले। पर लोग अब भी मैदान में जमे रहे। उनके विचारों का असर वैसे ही लोगों के मन पर पड़ा, क्योंकि ऐसी-ऐसी घटनाएँ पहले भी कई बार घट चुकी थीं, जो अब सबके भीतर टीसने लगी

थी।

दयानंद आगे की ओर बढ़ते जाते थे, और बार-बार पीछे मुड़कर देख भी रहे थे कि कहीं फिर से कोई लड़ाई-झगड़ा शुरू तो नहीं हो गया। हालाँकि किसी के हाथ में न तो लाठी थी और न ही कोई हथियार, पर शरीर तो है ही।

जब प्रो. दयानंद पाँच बीघा आगे बढ़ गए, तो एक उँचाई पर चढ़कर नीचे मैदान की ओर देखने लगे। कोई भी हाथ-पाँव हिला नहीं रहा था। पहले जो मार-पीट करने वाले थे, वे भी मैदान छोड़ चुके थे। पीछे से बाकी लोग भी अपने-अपने रास्ते चल दिए। जब सबकी मनःस्थिति ठंडी हुई तो वे भी उठकर विदा हो गए।

घर पहुँचकर प्रोफेसर दयानंद ने अपनी पत्नी से कहा- "बँसपुरा जाने के लिए तो दस बजे निकलने की योजना थी, लेकिन बैठक में ज़्यादा समय लग गया। अब नहाना नहीं होगा। जल्दी से कुछ खाने को दे दो, तब तक मैं हाथ-पाँव धो लेता हूँ।"

पति की बात सुनकर पत्नी कुछ न बोलीं। वे समझ गईं कि यह कोई नई बात नहीं है, ऐसे कई दिन हो चुके हैं जब किसी काम की आपाधापी में वे नहाने का भी समय नहीं निकाल पाए हैं।

कुछ कहे बिना ही बगुरबोनी के भगत कफलाके साथ बँसपुरा के काली स्थान पर पहुँच गए। भगत जी के हाथ में एक लोटा था और साथ में जगरण के लिए एक बाँस की बेंत। डलबाह और मनटुन के हाथ में सिक्कों की बड़ी थाली थी, जो मधुबनी बाज़ार से खरीदी गई थी। थाली में फूल, अक्षत, अगरबत्ती और माचिस रखी हुई थी। निरधन के कंधे से मृदंग लटक रहा था। रविया और सैनियाँ के हाथ में झाल। सोमना के हाथ में एक छोटी डलिया थी, जिसमें सरही आम के पत्ते और सात सूखी कुश रखी हुई थी। बुधवा के काँधे पर एक लंबा बाँस था, जिसकी चोटी पर लाल रंग का पताका और उससे ऊपर तीन हाथ की दूरी पर उसी रंग का कपड़े का टुकड़ा बँधा हुआ था। सब एक स्वर में जयकारा लगाते आगे बढ़ रहे थे- "काली महरानी की जय!"

पूजा समिति के सदस्य अपने-अपने कामकाज का हिसाब किताब लगा रहे थे। मूर्ति को अंतिम रूप देने का कार्य मण्डप के भीतर हो रहा था। भगत जी

के क्रियाकलाप देखने के लिए धीरे-धीरे लोग जमा होने लगे। समिति के सदस्य भी अपनी गणना रोककर उनकी ओर देखने लगे। मण्डप के ओसारे पर भगत जी के सहयोगी अपने-अपने सामग्री रखकर हाथ-पाँव धोने के लिए बगले के पोखर की ओर निकल पड़े। सोनमा ने अर्घ्य देने की डलिया उठा ली, भगत जी के हाथ में लोटा था।

सभी लोग हाथ-पाँव धोकर काली मण्डप के सामने आकर एक टाँग पर खड़े होकर प्रणाम करते हुए देवी के चरणों में गिर पड़े। प्रणाम के बाद निरधन मृदंग बजाने लगा। सैनियाँ और रविया ने झाल बजाना शुरू किया। पोखर से लौटे भगत जी मण्डप के सामने आकर लोटा हाथ में लिए मंत्रजप करते हुए आँखें मूँदकर खड़े हो गए। बुधवा ने मण्डप के सामने, थोड़े हटकर, ध्वजा गाड़नी शुरू की। बारिश की फुहार में भगत का स्वर गूँज उठा- “हे काली मैया..।”

ऐसा लग रहा था मानो हर कार्य का बँटवारा पहले से कर लिया गया हो। भगत जी वहीं खड़े-खड़े काँपने लगे। देवी अवतरित हो चुकी थीं। भगत जी के सामने डलबाह दोनों हाथों में डलिया लिए खड़ा हो गया। कुछ क्षण बाद भगत जी ने चङेरी से फूल-अक्षत निकाले और उत्तर दिशा की ओर जोर से फेंका, फिर गंगाजी का नाम लेते हुए दक्षिण दिशा में। चारों दिशाओं में फूल-अक्षत बिखेरने के बाद पाँचवीं मुट्ठी ऊपर आकाश की ओर फेंकते हुए ऊँचे स्वर में बोले- “ओ.. ओ..।”

और उसी स्वर में काली का नाम लेते हुए अपना परिचय दिया। काली के नाम का उद्घोष सुनते ही डलबाह ने प्रार्थना की- “हे माए, कोई वाक् (वचन) दीजिए।”

भगत (देवी रूप में) बोले- “इस स्थान का भाग्य जाग गया है। इसके नीचे स्वयं गंगाजी बह रही हैं। इस स्थान के बनने के बाद अब इस गाँव में किसी डाइन-चुड़ैल का कोई असर नहीं चलेगा। पहले गाँव के लोग कलह में डूबे रहते थे, अब सब आनंद से रहेंगे। किसी पर कोई अभिशाप या बीमारी नहीं लगेगी।”

गाँव की समृद्धि की यह वाणी सुन पूजा समिति के सभी सदस्यों के भीतर नया उत्साह भर गया।

देवनाथ ने पूछा-

“हे माए, आप क्या चाहती हैं?”

“यह स्थान अब मेरा है। अभी ध्वजा गाड़कर मैंने यहाँ पीठ (स्थान) स्थापित की है। हर दिन मेरी पूजा होगी, और साधक-साधिकाएँ यहाँ मेरी आराधना करेंगे। जिसे भी कोई संकट होगा, वह मेरी डलिया के पास फूल चढ़ाएगा और उसकी परेशानी दूर हो जाएगी।”

बुधवा ने ध्वजा गाड़ दी, पीठ स्थापित कर तुलसी का पौधा भी रोप दिया। समिति के सभी सदस्य चुपचाप यह दृश्य देख रहे थे। किसी के मन में कोई संदेह नहीं उठा, क्योंकि मिथिला के कई स्थलों में ऐसी गहवर-स्थितियाँ होती हैं।

मुस्कराते हुए देवनाथ ने पूछा- “हे मैया, कुछ अपनी पहचान दीजिए?”

झपटकर भगवती रूपी भगत गर्जन करते हुए बोलीं- “तूने जिस जान के बदले जान देने का वचन दिया था, वह निभाया? जब जान गर्दन में अटक गई थी, तब कौन बचाया? गर्दन से खतरा हटा, तो सब भूल गया! अब भी जो तू बचा है, वह तेरी स्त्री के पुण्य से है। जैसी तेरी स्त्री धर्मात्मा है, वैसा ही तू पापी है। उसी के धर्म में अब तक बचा है, वरना कब का तेरा सर्वनाश हो गया होता।”

भगवती की बात सुन देवनाथ के मन में वह पुरानी लड़कीवाली घटना याद आ गई। कुछ उत्तर न दे सका, केवल दोनों हाथ जोड़ चुपचाप बोला- “हे माए, भुला बैठा था, आपने स्मरण करा दिया।”

देवनाथ से दृष्टि हटाकर भगत ने जोगिन्दर से कहा- “तूने जो प्रतिज्ञा की थी, वह पूरी की? जब जान उलझी हुई थी, तब कितनी बार कहकर मन्नत बाँधी थी। वैसे, तेरा बारह आने का ग्रह दोष तो कट गया, बस चार आने शेष है। इसलिए दान-पुण्य कर-करके जल्दी से उसे भी समाप्त कर ले।”

जोगिन्दर के मन में उस रात की घटना ताज़ा हो उठी, वही रात जब वह रूपैया लेकर सेठ के यहाँ से लौटते समय फँस गया था। हाथ जोड़ते हुए बोला-

“हे मैया, सचमुच भूल गया था। बहुत जल्द ही आपकी मन्नत पूरी कर दूँगा।”

बीच में हस्तक्षेप करते हुए डलिबाह बोला- "आज तो पहली बार माता अवतरित हुई हैं, इससे ज़्यादा आज कोई कार्य नहीं होगा।"

डलिबाह की बात सुनकर भगत उत्तर दिशा की ओर मुँह कर दोनों हाथ ऊपर उठाए, आँखें मूँद लीं। काली माँ भगत के शरीर से निकल चुकी थीं। अब भगत सामान्य व्यक्ति की भाँति हो गया। झाल, मृदंग और देवी का आह्वान, सब शांत हो गया। आँख के इशारे से भगत ने डलिबाह से कहा- "कार्य सम्पन्न हो गया।"

डलिबाह ने भी उसी इशारे से उत्तर दिया- "हाँ।"

पूजा समिति के सदस्य भगत के पास से हटकर पुनः अपनी बैठक में लौट आए। लेकिन तभी समिति के सामने एक नई समस्या आ खड़ी हुई, क्या अब इस स्थान को गहवर (धार्मिक स्थल) घोषित कर निर्माण कार्य शुरू किया जाए या ध्वजा उखाड़कर इसे समाप्त कर दिया जाए?

मतभेद उत्पन्न हो गया। कुछ लोग गहवर बनाने के पक्ष में थे, कुछ विरोध में। मंगल के मन में कोई स्पष्ट निर्णय नहीं था। अंदर ही अंदर सोच रहा था, यह तो व्यर्थ में भदवा (झाड़-फूँकवाला) आ टपकल। मना करूँ तो शुभ कार्य अपशकुन से आरंभ होगा, और यदि कुछ न बोलूँ, तो यह भदवा सदा यहीं डेरा डाले रहेगा।

मंगल भगत को पहचानता नहीं था, लेकिन बगुरबोनी के भगत के विषय में वह जानता था, वही भगत जो कभी एक 'कोखिया गुहारि' (बांझपन से मुक्ति हेतु पूजा) में अनाचार कर बैठा था और छह माह जेल में रहा। वह अब बदनाम गहवर को छोड़ किसी नए गहवर की स्थापना करना चाहता था। परन्तु सवाल उठता है, भगत जेल क्यों गया था?

बगुरबोनी के भगत मथसिरदर्द से लेकर बाँझपन तक हर रोग के झाड़-फूँक करता था। एक दिन एक व्यक्ति अपनी पत्नी को लेकर कोखिया गुहारि कराने आया। दिन शुक्रवार था। तीनों में (गुरु, शुक्र, सोम) शुक्रवार सबसे शुभ माना जाता है। उसने बड़े सज-धज के साथ पूजा की थाली तैयार की थी। अन्य पूजा स्थलों पर बुज़ुर्ग महिलाएँ भी आती थीं, इसलिए कोई रोक-टोक नहीं होती

थी। परंतु यह व्यक्ति अपनी पत्नी को साथ लाने के साथ स्वयं भी भीतर चला गया।

उस बुज़ुर्ग पुरुष ने कलकत्ता में नौकरी की थी, परंतु अस्पताल का मुँह कभी नहीं देखा था। पूजा के समय भगत ने उससे कहा- “गहवर की सीमा से बाहर रहो।”

शाम हो चली थी, चारों ओर अँधेरा घिर आया था। उस व्यक्ति को शंका हुई, उसने बाहर हटने से इनकार कर दिया। दोनों के बीच कहासुनी हो गई। कहासुनी के बाद वह आदमी गहवर से बाहर, बहराक की चौखट तक चला आया, परन्तु कान लगाए सब देख-सुन रहा था। भीतर केवल भगत और उसकी पत्नी रह गए। थरथराते हुए भगत ने पहले उस महिला के शरीर पर हाथ रखा। महिला यह सोचकर चुप रही कि शायद यह भी पूजा का ही कोई अंग है। लेकिन जब भगत ने उसे पीठ पर झुकने को कहा, तब उसने जोर से अपने पति को आवाज दी। आवाज सुनते ही पति दौड़ते हुए आया और सीधे भगत पर हाथ छोड़ दिया। भगत का स्वयं का घर पास ही था। अपने ही घर में पिट जाना कैसे सहता!

शोर सुनकर पाँच-सात लोग और पहुँच गए, सभी भगत के पक्ष के। लेकिन भगत को उन्होंने डाँटा और थप्पड़ भी जड़ दिए। दो-चार तमाचे महिला को भी पड़ गए।

अगले दिन पति थाने गया और केस कर दिया। तीसरे दिन भगत जेल चला गया। अब जब जोगिन्दर ने सुना कि उसकी कुंडली में बारह आने ग्रह दोष से आठ आने कट चुका है, केवल चार आने शेष है, और वह भी दान-पुण्य से मिट सकता है, तो उसका मन बेचैन हो गया। उसे लगने लगा कि भगत ने जो कहा, वह सत्य था। जब रूपैया लेकर टेम्पू पर चढ़ा था, तब सचमुच मन्नत भी माँगी थी और रास्तेभर घुटनों के बल सिर झुकाकर काली माँ का जाप करता गया था। जब सब कुछ याद आ ही गया, तो यह कैसे असत्य हो सकता है कि अब भी चार आने ग्रह दोष बाकी है!

लेकिन दान-पुण्य करने के रास्ते भी अनेक होते हैं, कोई भोज कराता है, कोई तीर्थ स्थान में धर्मशाला बनवाता है, कोई तालाब या कुआँ खुदवाता है, कोई

विद्यालय या अस्पताल बनवाता है, कोई वस्त्र-अन्न दान करता है। अब वह खुद से सोचने लगा- "मैं क्या करूँ?"

अब तक किसी से मित्रता नहीं की थी, तो जो भी किया, खुद ही तय किया। लेकिन अब मंगल से मित्रता हो गई है, तो उससे पूछ लेना ज़रूरी है। पूजा समिति के सभी सदस्य काली स्थान पर ही थे, क्योंकि आज का कार्य सबसे जटिल था, कहीं दुकान की योजना बनानी थी, कहीं चंदा इकट्ठा करना था। इस बीच, जोगिन्दर मंगल को बैठक से उठाकर एक ओर ले गया। वहाँ ले जाकर बोला- "भाई, भगतजी ने जो कहा कि तुम्हारे ऊपर चार आने ग्रह दोष शेष है, क्या वह सच है?"

मंगल बोला- "तुम्हें खुद भी विश्वास हो गया?"

"हाँ। क्यों नहीं होगा विश्वास? क्या कोई झूठे देवी का अवतार होता है?"

जोगिन्दर की बात सुनकर मंगल सोच में पड़ गए, एक ओर दोस्ती, दूसरी ओर दुश्मनी की आशंका। अब तक ऐसे ही ओझा-गुनी लोगों में ही उलझा रहा, लेकिन लोगों का विश्वास तो अभी भी टिका हुआ है।

किसी को कुछ कहे-सुने बिना ऐसे ही चला आया, क्या ज़रूरी था? गोसाईंजी ठीक ही कहते हैं- "भइ गति साँप छुछुन्दर केरी।"

अगर भगत को भगा देंगे तो ऐसा तूफान खड़ा करेगा कि पूजा अधूरी ही रह जाएगी। और यदि भगत को रहने देंगे तो एक बड़ा तमाशा बनाकर रखेगा। सोचते-विचारते मंगल ने जोगिन्दर से कहा- "तो तुम्हारा क्या विचार है?"

जोगिन्दर बोला- "भाई, अगर खुद ही निर्णय करना होता तो तुमसे क्यों पूछता?"

जोगिन्दर के इस जवाब से मंगल और उलझन में पड़ गए। थोड़ी देर चुप रहकर बोले- "भाई, तुम कितना दान करना चाहते हो? दान-पुण्य के बहुत से विकल्प होते हैं।"

जोगिन्दर- "जितने दान-पुण्य के स्थान हैं, वे सब तो दूर हैं। जो पास में होगा, वही करूँगा।"

मंगल के मन में फिर शंका उठी, कहीं ऐसा तो नहीं कि यह (जोगिन्दर) यह कह ही दे कि हम ईंट-पत्थर से गहवर बना देंगे? अगर ऐसा कहा, तो न समर्थन कर पाना संभव होगा, न विरोध कर पाना। हथेली से एक चपत मारते हुए बोला- "बहुत सुंदर विचार है। मैं भी यही कहने वाला था।"

"मन में हो रहा है कि गांव में जो विधवा, निराश्रित महिलाएँ हैं, उनकी मदद की जाए।"

'मसोमात' शब्द सुनते ही मंगल के मन में खुशी की लहर दौड़ गई। हँसते हुए बोला- "बड़ी सधी हुई बात कहते हैं। लेकिन 'मसोमात' के मामले में थोड़ी समझदारी जरूरी होगी।"

"क्यों?"

"यहाँ दो तरह की मसोमात हैं। एक जो 'सरकारी' कहलाती हैं, और दूसरी जो समाज की वास्तविक विधवाएँ हैं।"

"मतलब?"

"सरकारी मसोमात वो हैं जो सरकार से मिलने वाली सारी सुविधाएँ पाती हैं। और सामाजिक विधवाएँ वे हैं जिनका न तो सरकार को पता है और न ही वे सरकार को जानती हैं। कुछ गिनी-चुनी 'सरकारी मसोमात' हैं जो अधिकारी-नेता की पालित हैं। जो भी सरकारी योजना लागू होगी, उसका लाभ वही उठाएगी। अजीब खेल है, सरकार और इन मसोमातों का।

उसी पोषित मसोमात को इंदिरा आवास की पक्की छत भी मिलेगी, बाढ़ और बारिश में गिरते घर का मुआवज़ा भी मिलेगा, फसल क्षति की भरपाई का पैसा भी, वृद्धावस्था पेंशन भी, और 'स्वरोजगार' के नाम पर सब्सिडी भी। इसलिए, असली दान-पुण्य तभी होगा जब हम उन निरीह, असहाय समाज की विधवाओं की मदद करें, जो ग़रीबी में जीवन गुज़ार रही हैं। इससे बड़ा पुण्य और क्या होगा! धन्यवाद दे उस माँ-दादी को जिसने सत्तर-अस्सी वर्ष पार कर लेने के बावजूद, जेठ की तपती दोपहर, भादो की उमस और माघ की शीतलहर में भी, पूरी ईमानदारी से मेहनत करना नहीं छोड़ा।

धन्यवाद उस अस्सी वर्ष की वृद्धा को, जो सिर पर धान, गेहूँ, मक्का की भारी गठरी लादकर दुलकी चाल में गुनगुनाती हुई खेत से खलिहान तक चली आती है।

..इसलिए मैं कहता हूँ कि अभी तो मेला की धूम है, लेकिन मेला बीत जाने के बाद सबको रोज़गार का रास्ता दिया जाए। काम करना बुरा नहीं होता, लेकिन वह काम शरीर की ताकत के अनुसार हो। अभी तो तत्काल के लिए पाँच दिन के मेले की थकान को ध्यान में रखकर मेला देखने के लिए कुछ नगद पैसे, और एक-एक साड़ी व ब्लाउज देकर सहायता की जाए। मगर एक बात और है, हमारी मिथिला की धरोहर भी तो यही है।

यहाँ ऐसे लोग भी होते हैं जो जीवन के चारों दिशाओं से हार चुके होते हैं, दुख की चट्टानों के नीचे दबे होते हैं, लेकिन उनका आत्मबल इतना मजबूत होता है कि दान स्वीकारने में भी संकोच करते हैं। इसलिए पहले जाकर उस माँ के चरणों में झुक कर कहना होगा, 'बाबी, तुम समाज रूपी परिवार की एक सदस्य हो, हम भी उसी परिवार के एक अंग हैं। इसलिए जो लोग कमाने में सक्षम हैं, उनका यह दायित्व बनता है कि वे परिवार के वृद्धों और बच्चों की सेवा ईमानदारी से करें। हम जो तुम्हें दे रहे हैं, वह सेवा है, सहायता नहीं।' ..तब वह बेचारी मुस्कुरा उठेंगी और दिल से आशीर्वाद देंगी।"

मंगल की बात सीधे जोगिन्दर के दिल में उतर गई। भीतर तक सिहर उठा। उसे लगा जैसे उन मसोमातों का दुःखी हृदय उसके अपने हृदय को धक्का देकर प्रवेश कर रहा हो। उसका मन पिघल गया। हालाँकि, जिस गाँव में जोगिन्दर का जन्म हुआ, वहाँ पहले भी मसोमातें थीं और आज भी हैं। लेकिन विधवाओं का जो रूप आज उसने देखा, वह पहले कभी नहीं देखा था।

काँपती हुई आवाज़ में मंगल से बोला- "भाई, जो तुमने कहा, उसे मैं अभी ही करता हूँ। लेकिन इससे मन नहीं मान रहा है। मेले के बाद कुछ अच्छा सोचकर अवश्य करूँगा।"

प्रोफेसर दयानन्द, साइकिल से सीधे बँसपुरा की ओर रवाना हो गए। गाँव की सीमा पार करते ही उन्होंने देखा कि एक शिक्षक, जिसकी नियुक्ति 'शिक्षा-

मित्र’ योजना में केवल डेढ़ हजार रुपये पर हुई थी, रास्ते के बीचोंबीच साइकिल खड़ी कर मोबाइल कान से सटाए खड़ा था।

लेकिन दयानन्द ने कुछ कहा नहीं। मन में सोचने लगे, एक तो वैसे ही देर हो चुकी है, ऊपर से अगर कुछ कहूँगा और बहस शुरू हुई तो और देर हो जाएगी।

लेकिन मन स्थिर नहीं हो पा रहा था। सोचने लगे, आज तो मेरा डेरा दरभंगा कॉलेज के पास है। लेकिन जब एम.ए. पास किया था, तब न तो साइकिल थी और न डेरा पास में था। डेढ़ कोस पैदल चलकर कॉलेज में पढ़ाने जाना होता था। अब देखता हूँ, गाँव का शिक्षक, गाँव के स्कूल में काम करता है, और मोटरसाइकिल से आना-जाना करता है! हजार रुपये की नौकरी वाला, अपनी ज़िंदगी को तीन हजार की रफ़्तार पर चला रहा है! क्या मैं उस शिक्षक से पूछ सकता हूँ, क्या आप अपनी ज़िंदगी की सीमाएँ समझते हैं? अगर नहीं समझते, तो आप पढ़ाएँगे क्या? बच्चे आपसे क्या सीखेंगे?

ये सारे सवाल दयानन्द के मन में उठते ही, उनका मन उलझ गया।

वे सोचने लगे, जैसे खरपतवार को हटाने के लिए दोनों हाथों से जड़ उखाड़नी पड़ती है, वैसे ही इन उलझनों को भी मन से हटाकर बँसपुरा के विषय में सोचना होगा।

सिसौनी की बैठक की खबर चारों दिशाओं में उड़ते पंछी की तरह फैल गई थी।

बँसपुरा की काली पूजा समिति की बैठक में भी सिसौनी की चर्चा जोरों पर थी। प्रोफेसर दयानंद के आते ही मंगल और देवनाथ उठकर खड़े हो गए और दोनों हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया। प्रणाम कर मंगल ने दयानंद के हाथ से साइकिल ले ली और मण्डप के बगल में जाकर खड़ी कर दी। साइकिल लगा दयानंद का हाथ पकड़ वह उन्हें बैठक में ले गया। बैठक के बीच, जहाँ पूजा के चंदे का हिसाब हो रहा था, प्रोफेसर दयानंद ने एक सौ एक रुपये का योगदान देते हुए पूछा- “अचानक आप लोगों के मन में काली पूजा का विचार कैसे आया?”

प्रोफेसर दयानंद के इस प्रश्न में एक गूढ़ संकेत छिपा था। इसलिए कोई

कुछ उत्तर नहीं दे पाया। दरअसल यह पूजा सिसौनी की दुर्गा पूजा की प्रतिक्रिया के रूप में आयोजित हो रही थी, इस बात को छिपाते हुए कोई कुछ बोल न सका।

लेकिन दयानंद का प्रश्न और संदर्भ कुछ और था। उनका संकेत था, दुर्गा पूजा तो शक्ति की पूजा है, जो एक प्रकार का सामाजिक-संगठित स्वरूप लिए होती है, जबकि काली पूजा काल की, अर्थात् समय की पूजा है। अब प्रश्न उठता है, क्या समय, शक्ति के संचय में कोई योगदान दे सकता है? अपने इस गूढ़ अर्थ को भीतर ही रखते हुए दयानंद सहज भाव से बोले- “बहुत सुंदर कार्य कर रहे हैं आप लोग। इससे समाज में एक नई चेतना जागेगी, जो आज की आवश्यकता है।”

बैठक में प्रोफेसर दयानंद और बँसपुरा की पूजा समिति के सदस्यों के बीच बातचीत चल ही रही थी, कि तभी बरहरबा गाँव के प्रोफेसर कमलनाथ मोटरसाइकिल से वहाँ पहुँच गए। दयानंद को देखते ही उन्होंने नीचे से ऊपर तक, पूरे शरीर को एक नज़र देखा और मुस्कुराते हुए बोले- “दयाबाबू! मैं तो आपके पीछे-पीछे आपके घर ही चला गया था।”

कमलनाथ के इस वाक्य का कोई प्रत्यक्ष उत्तर न देते हुए दयानंद मुस्कुरा उठे और बोले- “भाई साहब, अभी कुछ देर यहाँ देख लें, फिर दोनों भाई साथ चलेंगे। ये हमारे पढ़ाए हुए शिष्य हैं, जो आज पूजा का आयोजन कर रहे हैं।”

देवनाथ और मंगल दोनों कॉलेज में दयानंद के शिष्य रह चुके थे, अतः दयानंद को उनसे विशेष स्नेह था। प्रोफेसर कमलनाथ भी वहीं बैठ गए और बातचीत में सम्मिलित हो गए। पूजा की संपूर्ण व्यवस्था को समझ लेने के बाद दयानंद ने मंगल से कहा- “अभी तो यों ही देखने चला आया, लेकिन रात में पूरे परिवार के साथ दर्शन के लिए आएँगे। अभी और रुकता, पर भाई साहब कमल बाबू आ ही गए हैं। शायद आप लोग इन्हें न जानते हों। ये मेरे गुरु भाई हैं। चार वर्षों तक मैं इनसे पढ़ा हूँ। दस वर्ष पहले कॉलेज सेवा से निवृत्त हुए। पड़ोसी भी हैं, बरहरबा के ही रहने वाले।”

प्रोफेसर दयानंद और प्रोफेसर कमलनाथ के आगमन से देवनाथ और मंगल के मन में उत्साह चार गुना बढ़ गया। उन्हें ऐसा लगने लगा जैसे शरीर में

एक नई ऊर्जा का संचार हो रहा हो। प्रोफेसर कमलनाथ ने भी एक सौ इक्कीस रुपये का चंदा दिया। फिर आग्रह करते हुए मंगल ने कहा- "गुरुदेव, अब आप लोग कहाँ जाएँगे? यहीं रुक जाइए। कोई तो है जो आज आपको यहाँ तक लाया है।"

मंगल की बात सुनते ही कमलनाथ बोले- "बच्चा, तुम लोग आज तक मुझे नहीं पहचान पाए। जबकि हम सब एक ही क्षेत्र के लोग हैं। महीने में पाँच बार तो इस गाँव में आते-जाते रहते हैं। आज संयोग अच्छा रहा कि सबों से भेंट हुई। केवल भेंट ही नहीं, परिचय भी हो गया। जब हम एक ही परिवेश के हैं, तो एक साथ बैठकर गाँव के विकास के लिए मिलकर काम करें। वैसे तो मैं वृद्ध हो चुका हूँ, लेकिन जब तक जीवन है, तब तक सहयोग करता रहूँगा। गाँव को आगे ले जाने के लिए दो बातें आवश्यक हैं, पहली, मनुष्य को जीवित रहने के लिए आवश्यक मूल तत्वों को समझना और उन्हें उपलब्ध कराना। दूसरी, पीछे से आती प्रवृत्तियों को ठीक से परखकर, ग़लत को छोड़कर सही का अनुकरण करना। फिलहाल तुम लोग जिस बड़े कार्य में लगे हो, उसे अच्छे ढंग से पूरा करो। आगे सब समझ में आएगा।"

इतना कहकर प्रोफेसर कमलनाथ, प्रोफेसर दयानंद के साथ कुछ दूर हटकर बातचीत में लग गए। कमलनाथ से दयानंद ने पूछा- "आपको आज कुछ अधिक सक्रिय देखा। कोई खास बात है क्या?"

हँसते हुए कमलनाथ ने उत्तर दिया- "खास बात तो आप ही बताएँ। करीब साढ़े नौ बजे भतीजे ने आकर बताया कि आपके गाँव में एक बैठक थी जिसमें कुछ लोगों ने आपको गालियाँ भी दीं और मारने की धमकी भी। क्या यह बात सच है?"

कमल बाबू की बात सुनकर प्रोफेसर दयानंद अवाक् रह गए। मन-ही-मन सोचने लगे कि बैठक में तो कोई बाहरी व्यक्ति उपस्थित नहीं था, फिर यह बात बाहर तक कैसे फैल गई? फिर उन्हें ध्यान आया, इस इलाके के सारे गाँव एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। रिश्तेदारी, आवा-जाही, हाट-बाज़ार, सभी में संबंध हैं।

परिवार के छोटे-मोटे काम तो जैसे-तैसे चल जाते हैं, लेकिन सामाजिक

कार्यों की बातें तो उड़ती हुई हर दिशा में पहुँच जाती हैं। संभवत: वही हुआ होगा।

फिर उनके मन में विचार उठा, यदि कोई नकारात्मक बात फैली होगी, तो वह घटना भी साथ में ही फैली होगी। और जब घटना की चर्चा फैली होगी, तो विरोध के स्वर भी उठे होंगे। लेकिन ऐसा तो नहीं हुआ। घटना नकारात्मक नहीं थी। बल्कि उचित ही हुई थी। अन्याय के विरोध में खड़ा होना धर्म की रक्षा करना है। जैसे रामायण में बालि का विरोध कर राम ने धर्म की प्रतिष्ठा की थी, वैसे ही शायद यहाँ भी अन्याय के विरुद्ध खड़ा होने से भीतर एक नई शक्ति का संचार हुआ। अवश्य ही अन्याय के बीच कुछ हिचकते हुए ही सही, साहस के साथ खड़े हुए होंगे। यह तो जीवन की एक बड़ी उपलब्धि है।

मुस्कराते हुए, दुर्गा-पूजा में घटित घटना को दोहराते हुए प्रो. दयानंद बोले-

"हर गाँव में दस–बीस लुच्चे–लफंगे होते ही हैं। जो हमेशा समाज में कोई-न-कोई गड़बड़ी पैदा करते रहते हैं। ताड़ी–दारू पीकर बिना बात के किसी को गाली देना, माँ–बहन को देखकर अश्लील हरकतें करना, झूठी बातें फैलाकर फसाद खड़ा करना, ये सब उनकी आदत होती है। ऐसे लोगों की प्रवृत्तियों को रोकना समाज की ज़िम्मेदारी है। मैंने भी वही किया।"

"अगर दुर्गा पूजा के समय मैं रामेश्वरम् नहीं गया होता, तो शायद ऐसी घटना गाँव में घटती ही नहीं। जिस गाँव में सदियों से पीढ़ियाँ मिल-जुलकर सुख-शांति से रहती आई हैं, उस गाँव में इस तरह की घटनाएँ होंगी, तो क्या समाज में आग नहीं लगेगी? शांति कैसे बनी रह सकती है? और जब तक समाज शांत नहीं रहेगा, तब तक आगे की ओर बढ़ा कैसे जा सकता है? इन्हीं सब बातों को सोचते हुए मैंने गाँव में बैठक की। बैठक में थोड़ी बहुत नोक-झोंक हो गई, लेकिन इसके लिए समाज को धन्यवाद देना चाहिए कि वह गलत के विरोध में एकजुट होकर खड़ा हुआ। हाँ, यह भी सच है कि ग़लत करनेवाले लोग व्यवस्था के ही उपजाए हुए फल हैं, इसलिए वे भी कमज़ोर नहीं होते।"

प्रो. दयानंद की बात सुनकर प्रो. कमलनाथ बोले- "देखिए, किसी भी स्थान तक पहुँचने के रास्ते कई हो सकते हैं और सवारी भी अलग-अलग तरह की होती है। लेकिन यदि चलनेवाला यही सोचता रह जाए कि यह रास्ता बेहतर

है या वह, तो वह कभी मंज़िल तक नहीं पहुँच पाएगा। हमारे इलाके का दुर्भाग्य यही रहा है कि हम विचारों में तो बड़ी-बड़ी बातें कर लेते हैं, लेकिन जब कर्म की बारी आती है तो शिथिल पड़ जाते हैं। कोई भी विचार तब तक मूल्यवान नहीं बन सकता जब तक वह कर्म रूप में परिणत न हो। कहने को तो हर कोई अपने बच्चों को सिखाता है कि बेटा, बुरा काम मत करना, लेकिन जब वे कर लेते हैं तो दो मीठी बातें कहकर टाल देते हैं। ऐसे में बुरे काम कैसे रुकेंगे?"

"जो भी हो, आपकी प्रसन्नता देखकर हमें भी प्रसन्नता हुई। आगे जो होगा, देखा जाएगा। चलिए।" ❑

तीन

नींद खुलते ही दुखनी का मन भर आया। बिछावन पर उठते ही याद आया- आज तो दीपावली है, और गाँव में काली पूजा का मेला भी लगता है। बेटी की याद आ गई।

ऐसे ही तो श्यामा को खबर भिजवाई थी कि एक दिन पहले ही बच्चों को लेकर आ जाना, लेकिन वह कहाँ आ सकी। बेचारी करेगी भी क्या? घर में राशन-पानी का ठिकाना न होगा, लेकिन जब तीनों बच्चे मेले में घूमेंगे, तो दस–बीस रुपये तो चाहिए ही। अगर उसके हाथ में पैसे नहीं होंगे, तो उसे भी कहीं-न-कहीं से व्यवस्था करनी ही पड़ेगी। हो सकता है कि उसकी तैयारी नहीं हो पाई हो। हाँ, हाँ, शायद यही वजह रही हो।

वैसे, आज पूरा दिन आने का समय अभी बाकी है, देर-सवेर तो आ ही जाएगी। खाने के लिए चावल और दिखावे के लिए कुछ पैसे तो लेकर ही आएगी, मगर पूजा की सामग्री, जलावन, तो नहीं लाएगी। और अब तक तो मैंने भी जलावन की कोई तैयारी नहीं की। अब कब करूंगी?

यही सब सोचते हुए उसका मन भर आया। सोचा था कि श्यामा आएगी तो घर-आँगन का काम सँभाल देगी, लेकिन वह भी न हुआ। सारा काम दिन भर में मैं ही कैसे करूँ? घर में लीप-पोत करना है, पूजा का कोना जस का तस पड़ा है। अकेले कैसे सब सँभालूँगी? पूजा की जगह में मिट्टी भरूँ, घर लिपूँ या जलावन लाने जाऊँ?

काम का भार देखकर दुखनी को बेचैनी होने लगी। घबड़ाई हुई-सी वह बिछावन से उठी और पूजा का कोना देखने गई। लेकिन दोपहर का वक्त होने के कारण उसे लगा कि अभी मिट्टी डालना जरूरी नहीं है।

काम कुछ हल्का जान पड़ते ही मन में थोड़ी राहत हुई। पूजा की जगह पर खड़ी होकर उसने ओसारा (बरामदा) में नजर दौड़ाई। कहीं से छत नहीं टपक

रही थी, तो सोची, लीपना-पोतना भी जरूरी नहीं, बस मकड़ी के जाले और धूल-झाड़ भर देना ठीक रहेगा।

मन और हल्का हो गया। जैसे ही राहत मिली, वह झाड़ू लेकर घर और ओसारे की धूल-पोछ करने लगी, फिर आँगन भी बुहार दिया। झाड़ू रखकर पानी भरने कलश लेकर कुएँ पर गई। घड़ा भरकर लौटी, मुँह धोया, पोंछा और तमाखू निकालते हुए सोचा, एक जूम अभी खा लेती हूँ, दो बँधाई बना कर साथ भी ले लूँगी, और उसने वैसा ही किया।

वैसे दुखनी पहले तमाखू नहीं खाया करती थी, हुक्का पीती थी। लेकिन जब से लबहदक का मिल बंद हुआ है, तभी से सूखी छूआ मिलनी बंद हो गई है। इसी से पीनी (तम्बाकू पत्ता) महँगी हो गई है।

घर बंद कर, काँधे पर लग्गी रखकर दुखनी माटी लाने के लिए बधार की ओर चल दी। बधार का आधा भाग नीचे की ओर खेती के काम आता था, बाकी ऊपरी भाग बगीचे की तरह था।

बड़े-बड़े आम के पेड़ों के नीचे वह खड़ी हुई और सूखी झाड़ियों को देखने लगी। दोपहर का उजास फैला था, तब भी उसकी निगाह यकायक जलावन पर जा टिकी। जलावन देखते ही मन चपचपा गया, एक अजीब-सी ताजगी, एक हल्की खुशी!

आँचल का सिरा खोलकर दुखनी ने तमाखू की एक चुटकी निकाली और मुँह में डाल ली, फिर आँचल बाँध लिया। तमाखू मुँह में लेते ही उसे याद आया, अरे! ऊक बनाने के लिए खढ़ कहाँ रखा है?

हर साल लोग आसिन-कातिक महीने में खरहोरि (सूखी लंबी कास) काटते हैं, उसी में से दो मुठ्ठी वह भी रख लेती थी। उससे साल भर झाड़ू भी बन जाती थी और ऊक भी। लेकिन जैसी मजबूत और रेशेदार खरहोरि होती है, वैसी तो राड़ी (घास की झाड़ू) कहाँ होती है?

मगर हार मानने वाला नटुआ (नाचने वाला) क्या करे? अब तो हर घर में बकरी पाली जाती है, कहाँ कोई एक भी खरहोरि छोड़ कर रखता है? ऊपर से मौसम भी ऐसा तेज धूप वाला रहा कि घासवालों ने भी हरियाली समेत घास

काट कर खरहोरि को भी पलट दिया।

अब बिना खढ़ के ऊक कैसे बनेगा? और ऊक नहीं रहेगा तो पर्व (पवित्र रसोई में पकाने की लकड़ी का झाड़) कैसे मनेगा? यह कोई शहर या बाजार है क्या, जहाँ लोगों के घरों में सीर-पाट (चूल्हे के सामान) रखा हो या ऊक बनाने का सामान मिले? यहाँ तो सीधे-सीधे फटाक-फटाक छुरी से पर्व बना डालते हैं।

इसी उधेड़बुन में उसकी नजर खिरा खढ़ (खर की लकड़ी) पर पड़ी, जो वहाँ पड़ी-पड़ी सूख रही थी। नजरें घूमते हुए गंगा बाबा की ओर गईं। दुखनी बुदबुदाई- "तो! अकारथ ही मन इतना भारी हो रहा था। घर के पास ही पोखर के किनारे महार (गहरे पानीवाले किनारे) पर खढ़ का गठ्ठर बाँधकर रखा है, उसी में से ले आउंगी।"

मुँह में घुलती तमाखू का रस थूककर बाहर फेंका। जब खढ़ का इंतज़ाम याद आया तो उसका मन सनठी (पटुआ की मजबूत रस्सी) की ओर चला गया। बिना सनठी के ऊक कैसे बनेगा?

मन में खीज उठी। खीझते हुए बोली- "अब तो सारे खेत वाले पटुआ उगाना ही छोड़ दिए हैं! और हम जैसे गरीब लोग क्या करें? हमारा कोई खेत-पथार है भी नहीं। लेकिन खेत वालों को भी ऊक फोड़ना छोड़ देना चाहिए! माल-जाल (पशुधन) को छल्ला और गरदामी (रस्सी से बाँधना) में जकड़ दो! अब जाओ, बाजार से खरीद लाओ प्लास्टिक की रस्सी! फिर जब तुम्हारे जानवरों के गले में वो डोरी रगड़ खाएगी, चमड़ी छिलेगी, मख्खियाँ भिनभिनाएंगी, घाव होगा, मरेंगे, तब समझ में आएगा कि पटुआ न उगाने का क्या नतीजा होता है!"

बात करते-करते दुखनी का गुस्सा धीरे-धीरे उतरने लगा। मगर तभी मन में फिर एक चिंता कौंध गई- "अरे, बिना सनठी (रस्सी) के अगर ऊक (झाड़) बना भी लूँ, तो भोर में सूप से क्या बजाऊँगी? आज लक्ष्मी पूजा है, अगर सूप बजाकर दरिद्रता को नहीं भगाया, तो वह कैसे भागेगी?"

वह अपने आप से बात करने लगी-

"क्या सिर्फ मेरे पास ही सनठी नहीं है, या पूरे गाँव में किसी के पास भी नहीं होगी?"

“अगर औरों के पास है तो मुझे क्या? कोई अपना दरिद्र भगाए या दूसरे का!”

"लेकिन अगर किसी ने पहले से सब सनठी जमा कर ली हो और मुझे कुछ भी न मिले, तब तो सबका दरिद्र भाग जाएगा, और मेरे ही घर अटका रह जाएगा!”

दुखनी ने दोनों हाथ सिर पर रख लिए और सनठी की चिंता में डूब गई। धीरे-धीरे उसके अंदर हूक उठने लगी। मन भारी होने लगा, जैसे कोई भारी चीज उँगली पर गिर गई हो और उससे छटपटाहट हो, वैसी ही छटपटाहट सनठी की चिंता से मन में होने लगी।

वह इधर-उधर नजर दौड़ाने लगी, जैसे उम्मीद थी कि कहीं कोई सनठी दिख जाए। एक बार घूमकर देखा, कहीं नहीं। फिर दोबारा चक्कर लगाया, फिर भी कहीं कुछ नहीं मिला।

मन कहने लगा- “बिना सनठी के ऊक बन भी गया तो वह अशुद्ध रहेगा। और अशुद्ध ऊक से भगवान के सामने झाड़ू कैसे लगाऊँ? भगवान को क्या पता चलेगा? मगर फिर भी... गरीब का जीवन हमेशा ही अभावों से घिरा रहता है, फिर भी किसी तरह से गुजार ही लेता है। देवता-पितरों में भी इतना समझ जरूर होगा कि पर्व-त्योहार में भी कुछ न कुछ व्यवस्था करेंगे!”

दुखनी ने फिर सनठी की तलाश छोड़ दी और उसे डिहबार स्थान (पूजास्थल) पर भागवत सुनाई देने लगी। भागवत की धुन कानों में पड़ते ही उसके मन में महाभारत का दृश्य कौंधा, कृष्ण कुरुक्षेत्र में शंख बजा रहे हैं।

लेकिन जब व्यास जी श्लोक का अर्थ समझाने लगे, तो दुखनी का मन उचट गया। खैनी खाने की इच्छा हुई। आँचल के कोने से खैनी निकाली और चुनने लगी। अब अर्थ कौन सुने? भागवत की बात वैसे भी कम ही समझ में आती है, अब तो मन से भी निकल गई।

मन फिर उसी चिन्ता पर लौट गया, सनठी। तभी उसकी नजर पास ही रखे चन्नी और सनै (अन्य प्रकार की पतली रस्सियाँ) पर पड़ी।

चन्नी और सनै को देखते ही उसके मन में पछतावा भर आया-

“बिना बात के गिरहत (किसान) लोगों को कोस डाली। पटुआ की खेती तो बेचारे किसान इसलिए छोड़ दिए कि मेहनत और लागत दोनों हमसे, लेकिन व्यापारी लोग गरदन काटकर ले जाएँ। ठीक ही किया कि छोड़ दिया पटुआ उगाना!”

“अपने जरूरत भर के लिए जो डोरी-रस्सी चाहिए होती है, वह तो चन्नी और सनै से काम चल ही जाता है।”

“मगर व्यापारियों को कहाँ कोई समझ। जैसे किसानों की गर्दन काटकर उन्होंने धन का ढेर लगा लिया, वैसे ही प्लास्टिक आ गया और सब कुछ खा गया। बड़े-बड़े कारखाने बस ढन-ढन करते रह गए!”

चन्नी याद आते ही दुखनी के चेहरे पर हल्की खुशी की रेखा उभर आई। उसने आँचल के कोर से तमाकुल निकाली और मुँह में रख ली। उसे याद आया, पटुआ और सन्ठी से जो मोटी रस्सियाँ बनती हैं, वैसी ही चन्नी की भी होती है। सूप बजाने के लिए तो यह बिलकुल ठीक रहेगी। सोचने लगी- ‘इतने जोर से सूप बजाऊँगी कि दरिद्रता भागे और अगले दिन गली में पड़ा दिखे।’

चन्नी की बात याद आते ही नजर घुरना के खेतों की ओर गई। वहीं पर तो खूब चन्नी उग आई थी। सुंदर भी, लेकिन पटुआ की तरह सख्त नहीं होती। खैर, जो हो, काम तो चल ही जाएगा। घुरना की घरवाली बड़ी मिजाज वाली है। जब कहोगे, तब मदद कर देगी। जयललबा की बहू की तरह घमंडी तो है नहीं, जो सामने की चीज भी लात मार दे। अजी, दूसरे की चीज लेने के समय तो ऐसे मीठा बोलती है, जैसे मुँह से शहद टपक रहा हो। भगवान करे, ऐसे लोग तो एकदम मिट जाएँ!

गुस्से में दुखनी ने मन ही मन कोस तो दिया, मगर तुरंत पछता भी गई-

“बिना बात के कोसने का क्या मतलब? आखिर हम भी तो किसी की माँ हैं, किसी की सास। माँ-बाप के श्राप का असर आखिर संतान पर ही तो पड़ता है। जैसा कर्म करेंगे, वैसा फल मिलेगा। बीस साल हो गए, किसी के दरवाजे थूकने तक नहीं गई। अपने से ही सब कुछ निबाह रही हूँ..."

जैसे ही पानी की बाल्टी पर नजर पड़ी, श्यामा याद आ गई। "कैसे कहा था उसे, एक दिन पहले ही आ जा। तू क्या किसी और की तरह अकेली है? तेरी तो हथिनी जैसी सास है, तुझे क्या चिंता।”

फिर सोचा- “लक्ष्मी पूजा का दिन है। सब अपने-अपने घरों में पूजा कर रहे होंगे। शायद इसी वजह से नहीं आ पाई होगी।” मन फिर तमाकुल की ओर गया। आँचल की गाँठ खोलकर देखा तो बस एक ही जुम बचा था। सोचा, इसे दो बार के लिए बाँट लूँ, मगर टूटे हुए दाँत के बीच गुम हो जाएगा। आखिर एक ही जुम को मुँह में रख लिया।

तमाकुल खाते ही बेटा याद आ गया। बेटा याद आते ही सोचने लगी, ‘अगर साल भर परदेश में नहीं रहेगा, तो कमाएगा कैसे? अंदाजे से सोचा, चार-पाँच महीने हुए होंगे।’ लेकिन चार-पाँच महीने झूठे लगे। हिसाब लगाने लगी। याद आया- ‘ठीक से याद है, वह आसिन महीने में गया था। हाँ, तब हम पोखर पर तेल-खैर चढ़ा आए थे। अभी कातिक चल रहा है। अरे नहीं, पिछले साल का आसिन नहीं था, क्योंकि उसके जाने के बाद ही नाइत का बेटा पैदा हुआ था। वह भी अब दौड़ने लगा है। दो साल तो हो ही गए होंगे।’

उँगली पर हिसाब लगाने लगी, ‘दो साल और एक साल, तीन साल तो हो ही गए!’

यह सोचते ही चौंक उठी- ‘न एक बार पैसा भेजा, न एक बार घर आया!” लेकिन इसी के साथ एक अनकही खुशी भी मन में भर आई- “अब तो लड़का जवान हो गया होगा। खाने-पीने की कमी क्या होगी? अब तो पहचान में भी नहीं आएगा। दाढ़ी-मूँछ भी निकल आई होगी। आएगा तो शादी कर ही दूंगी। अकेले तो अच्छा नहीं लगता। बिना संतान के आँगन, क्या आँगन होता है? लोग भी तो कहते हैं, जहाँ बच्चे हैं, वहीं लक्ष्मी का वास होता है।’

मगन होकर दुखनी ने आँखें मूँद ली और अपने फले-फूले परिवार की कल्पना करने लगी। जैसे कोई पोखर में नाव पर चढ़कर लहरों से खेलते हुए तट की ओर लौटता है, वैसे ही वह भी कल्पना की दुनिया से लौटने लगी। लेकिन दृश्य देखते ही विचार बदल गया। मन में आया, अगर कहीं बेटा परदेश में ही

विवाह-तिवाह कर ले और फिर गाँव की ओर रुख ही न करे, तो क्या होगा? गाँव में तो ऐसे न जाने कितनों को देख चुकी हूँ।

अब तक के मन की खुशी पर जैसे एकाएक पानी फिर गया। निराश मन सोचने लगा, ज़माना ही ऐसा हो गया है कि कोई किसी से कुछ कह भी नहीं सकता। अब किसी का बेटा-बेटी किसी के वश में नहीं रहता। जिसे जो सूझता है, वही कर बैठता है। बेटा लोग जहाँ बहू को देखता है, वहीं माँ-बाप को बिसरा देता है, जैसे पूरा का पूरा मन उसी में रम जाता है।

दुखनी की आँखों में आँसू भर आए। आँचल से आँसू पोंछने लगी। आँसू पोंछते हुए मन में विचार उठा, जब तक शरीर में ताकत है, तब तक न किसी से माँगा और न ही माँगूँगी। जिस दिन शरीर ने जवाब दे दिया, उस दिन सब कुछ समझ में आ जाएगा। जीवन का क्या भरोसा, ताकत रहते भी मर सकते हैं, फिर अभी से क्यों दुख मनाना? अगर बेटा परदेश ही रह गया, तो वहीं रहे!

बेटे की चिंता से ध्यान हटकर अब बेटी की ओर चला गया। बेटी की याद आते ही मन में आशा की किरण जागी। आशा के साथ ही होठों पर हल्की मुस्कान आ गई। बोली- "सात घर के दुश्मनों को भी भगवान वैसी बेटी दें जैसी हमें मिली। साक्षात लक्ष्मी है वो! मैं भले ही उसे नया कपड़ा न दे पाऊँ, लेकिन आज तक उसे कभी पहनने-ओढ़ने का अभाव नहीं हुआ। उसी के प्रसाद से घर में तीन पेट अन्न की व्यवस्था बनी हुई है। और दामाद! वो तो जैसे खुद माथे पर उठाकर अन्न-पानी दे जाते हैं।"

आशा जागते ही दुखनी जलावन तोड़ने के लिए उठ गई। नज़र उठाकर पेड़ पर सूखी टहनी देखने लगी। रौद्र का समय था, इसलिए मन को भरोसा हुआ कि सूखी टहनियाँ पेड़ पर अब भी होंगी। जब जलावन दिखी, तो मन खुशी से उछल पड़ा। मन में गाँव का सुख नाचने लगा। आज भी गाँव, गाँव ही है! शहर-बाजार में तो लोग जलावन खरीदते-खरीदते ही तबाह हो जाते हैं।

मोन में सिंहेश्वर स्थान के मेले की याद ताज़ा हो गई। एक बार सिर्फ एक शाम भोजन पकाया और उसमें ही दस रुपये की जलावन जल गई। सौभाग्य था कि साथ में सात-आठ लोग थे, तो सबने मिलकर खर्च बाँट लिया, वरना डेढ़

रुपये की जलावन तो अकेले चूल्हा जलाने में ही खत्म हो जाती!

लग्गी उठाकर दुखनी ने एक ही सांस में दो पेड़ों से सूखी टहनियाँ तोड़ डाली। जलावन देखकर मन में संतोष उपजा- “कहिए-कहिए तो पाँच बोझ से ज़्यादा ही हो जाएगा।”

लेकिन साथ ही चिंता भी सताने लगी- “उठा कर तो ले जाना होगा ही। घर भी कोई पास में तो है नहीं। पाँच बार आना-जाना करते-करते तो दोपहर हो ही जाएगी।”

फिर मन को समझाने लगी- “चाहे जैसा भी हो, इनसे तो पंद्रह दिन तक तो चूल्हा जलेगा।”

फिर एक विचार और उठा- “अगर इसी बीच श्यामा आ गई होगी, तो वह आँगन-आँगन खोजती फिर रही होगी।” फिर सोची- “लेकिन अब इस हालत में छोड़कर जाना भी कैसे संभव है? सब लोग अपना हिस्सा तो लिए ही जा रहे हैं। चलो, सब जलावन को एक जगह बाँध लेती हूँ, एक बोझ लेकर चलूंगी। रास्ते में कोई पहचान वाला मिल जाएगा तो खबर भी मिल जाएगी। अगर श्यामा आ गई होगी, तो दो बार में माँ-बेटी मिलकर सारा बोझ उठा लेंगे।”

मन के अस्थिर होते ही तमाखू खाने की इच्छा जागी। आँचल की गाँठ पर नज़र पड़ी तो याद आया- “तमाखू तो पहले ही खत्म हो गया था!” लेकिन खेत के किनारे बिछी हुई जलावन देख मन में फिर जागा- “पर्व का दिन है, ज़्यादा झुंझलाहट करेंगे तो सारा काम बिगड़ जाएगा। आँगन में भी ढेर सारा काम पड़ा है।”

जलावन बिछाने को उठी। पेड़ के चारों ओर नज़र दौड़ाई तो देखा, बीच में कहीं एक भँवरे का छत्ता भी गिरा पड़ा है। छत्ते से उड़ते हुए भँवरे चारों ओर फैल गए थे। पंखवाले डंक वाले भँवरे देख दुखनी काँप गई- “हे बाप रे! ये तो डंक मारनेवाले भँवरे हैं, दो डंक भी मार देंगे तो जान ही चली जाएगी!”

फिर सोचने लगी- ‘पर अब इनको छोड़कर कैसे जा सकती हूँ? चलो, लग्गी से छत्ता उठाकर एक किनारे फेंक देती हूँ, फिर जलावन चुन लूँगी।” लेकिन भँवरे तो पूरे में फैल गए थे। साहस बटोरकर छत्ते को लग्गी से हटाया और एक

ओर फेंक दिया, फिर जलावन चुनने लगी। तभी ध्यान गया- 'अरे! ये तो दो किस्म की टहनियाँ हैं, कुछ मोटी, कुछ पतली।' सोचने लगी- 'तो चलो, दोनों को अलग-अलग बाँध लेती हूँ।' वह वही करने लगी। जैसे ही बिछाने लगी, एक और चिंता सताने लगी- 'हाय रे बाप रे! अब बाँधूंगी किससे? पुराना रस्सी तो है ही नहीं!'

सोचते-सोचते दुखनी चारों ओर नजर दौड़ाने लगी- 'अगर पहले याद आ जाता तो आँगन से ही पुराना रस्सी ले आती, लेकिन वो भी तो याद नहीं रहा। अब छोड़ दूँगी तो सब कोई उठा ले जाएगा!'

इतनी देर से काम में लगी हुई थी, कुछ खाया-पीया भी नहीं था। लेकिन जलावन देखकर दिल को एक सुकून मिलता था- 'किसी तरह पंद्रह दिन तो चूल्हा जल ही जाएगा। अगर दो-चार दिन और तोड़ लूँ तो पूरे जाड़े भर की व्यवस्था हो जाएगी।'

नज़र उठाकर घास काट रही औरतों की ओर देखा कि कोई दिख जाए तो उसकी दरांती मांग लूँ। नहीं तो खेत की बाड़ काटकर ही कोई रस्सी बना लूँ। लेकिन वहां भी कोई नज़र नहीं आया। फिर हिम्मत करके करजान की ओर चल पड़ी, शायद वहाँ कुछ मिल जाए। लेकिन वह तो केले के पेड़ की सूखी छाल थी, जो बिना दरांती के काटना भी मुश्किल था।

करजान पहुँची तो देखा कि वहां केले की छाँह में कोई पहले ही पत्तों को काटकर वहीं छोड़ गया था। वहाँ कुछ पुराना रस्सी पड़ा देख दिल में खुशी की लहर दौड़ गई। पाँच-सात रस्सी के टुकड़े उठा लाई और जलावन के पाँच गठरी बाँध ली। चार गठरियाँ पेड़ के पास छोड़ एक लेकर घर पहुँची।

घर आकर सोचा कि पहले कुछ पका कर खा लूँ, लेकिन फिर ध्यान आया कि यदि आँगन के काम में उलझ गई तो ये जलावन ऐसे ही पड़ी रह जाएगी। थोड़ी देर संकोच के बाद एक घूँट पानी पिया, घर से तमाखू निकाली, मुँह में डाली और फिर निकल पड़ी। पाँचों गठरियाँ एक-एक करके घर पहुँचा दी। गठरियाँ ले जाते हुए गरदन और पीठ में खिंचाव होने लगा। पूरा शरीर थक गया था। हाथ-पैर भी नहीं धोए और आँगन के एक कोने में ज़मीन पर ही लेट गई।

थकान के मारे नींद वैसे ही टूट पड़ी।

समय बीत गया। घर की छाया आँगन में दो हाथ तक सरक आई। इसी बीच डेढ़िया (आँगन का प्रवेश द्वार) पर जोगिन्दर की आवाज़ आई- "काकी! काकी!”

लेकिन दुखनी की नींद नहीं टूटी। जोगिन्दर आँगन में चला आया, देखा कि काकी ज़मीन पर लेटी गहरी नींद में सो रही हैं। वह फिर पुकारा,

"काकी! काकी!”

खड़ा हुआ जोगिन्दर सोचने लगा- ‘हम तो पैसेवाले कहलाते हैं, लेकिन सब सुख-सुविधा होने के बावजूद वैसी नींद तो हमें कभी नहीं नसीब होती। देखो तो पेट भी भीतर तक चिपका है, शायद कुछ खाया भी नहीं है। पैर भी धूल में सने हुए हैं, लगता है अभी कहीं से मेहनत करके लौटी हैं।’

फिर उसे ख्याल आया- “अगर अभी कोई आकर इसका सारा सामान उठा ले जाए, तो इन्हें खबर भी नहीं होगी। इनके लिए ये ही दुनिया है।”

और फिर खुद से बोला- “जैसे चीनी के कीड़े को मिर्च में डाल दिया जाए तो वह मर जाएगा, क्योंकि वह उसी में जीने का आदी है। मगर क्या मिर्च का कीड़ा चीनी में ज़िंदा रह पाएगा?"

जोगिन्दर के मन में एक अजीब-सी स्थिति उठ खड़ी हुई। लेकिन कामकाज की धूम-धाम वाली सोचों की दुनिया से वह अचानक खिंच गया। तभी काकी ने पुकारा। काकी की आवाज सुनाई दी। पर नींद न टूटी देख उसने कपड़े ओसारे पर रख दिए और दुखनी की घुट्टी दबाने लगा। घुट्टी दबाते ही दुखनी की नींद टूट गई। आँखें मूँदे-मूँदे ही बोली- “अरे शामा! कल क्यों नहीं आए?”

दुखनी की आवाज सुनकर जोगिन्दर को लगा मानो काकी अभी भी सपना देख रही हो। घुट्टी हिलाते हुए उसने कहा- “काकी, काकी..?”

आँख खोलकर दुखनी उठ बैठी। हाँफते हुए जोगिन्दर की ओर देखा, मगर कुछ बोली नहीं। जोगिन्दर ने गठरी खोलकर पूरा गट्ठर साड़ी, साया, एक अंगी और दस-दस के सिक्के सामने रखते हुए कहा- “अब तक काकी, आपने नहाया

भी नहीं है।”

जिस तरह आम बीनने वाला पेड़ के नीचे गिरे आम को देखकर चौंक उठता है, उसी तरह दुखनी भी चौंक गई। बोली- “बौआ, ज्वर था, इसलिए सुबह-सुबह ही तोड़ने चली गई। उसी को समेटते-सँभालते दोपहर हो गई। कुछ खाया भी नहीं। आराम करने लगी तो आँख लग गई।”

दुखनी की बात सुन जोगिन्दर बोला- “काकी, अभी तो घबराई हुई हैं, इसलिए नहीं ठहरूँगा। पूजा निपटने के बाद नीचे से आऊँगा, तब और बातें करेंगे, कोई कामकाज हो तो मदद भी कर दूँगा। अभी तो मेले देखने के लिए कपड़े और पैसे दे दिए हैं। अब चलता हूँ।”

जोगिन्दर उठकर विदा हो गया। मन-ही-मन दुखनी हिसाब जोड़ने लगी कि आधे पैसों से चावल खरीद लूँ और आधे हाथ-मुट्ठी में रख लूँ। मेला-ढेले का समय है, पता नहीं कब कौन-सा संकट आ पड़े।

फिर मन में आया कि बेटी तो अब तक आती ही होगी। वह भी चावल लेकर जरूर आएगी। क्योंकि जब बिना कारण ही ले आती है, तो आज तो सहज ही पाकर लाएगी। दोनों नातिनें भी साथ होंगी। उनके हाथ में भी दो-चार रुपये न दूँ तो कैसा लगेगा। चाहे हम कितने भी गरीब क्यों न हों, लेकिन नानी तो हैं ही।

साड़ी खोलकर दुखनी देखने लगी। साड़ी को देखते ही बड़बड़ाई- “ऐसी साड़ी का क्या काम है। क्या कोई नई दुल्हन हूँ कि ऐसी छपाईदार पहनूँ। इससे अच्छा तो तीन काम की मारकीन दे देता, जिसे चाहे जितना भी धो-पिट कर पहनती, फिर भी साल भर चल ही जाती। साया का भी क्या काम है। अब तो बुढ़ापे में पहुँच गई हूँ। जब जवान थी, तब भी तो डेढ़ ही पहनती थी। मैंने भला माँगा कब था, लेकिन जब घर में घुसकर दे ही दिया तो जो मिला वही अच्छा। बेटी आएगी तो उसकी पुरानी ले लूँगी और यह दे दूँगी।”

साड़ी, साया और आँगी समेटकर दुखनी रुपये गिनने लगी। फिर बुदबुदाई- “सबके सब दस-टकही हैं। दस हैं। दस-दस मिलाकर बीस हुए।”

वह उन्हें दो-दो कर अलग रखकर गिनने लगी। पाँच बीस हो गए। मन में

खुशी छा गई। लेकिन तुरंत ही सोचने लगी कि आज तो पर्व का दिन है, अब तक तो खाया तक नहीं। 'सब दिन खाएगा, पर्व में ललचाएगा' वही बात हो गई। पर सुबह से तो बाग-बगीचे में ही लगी रही। सारा काम निबटाया, बिना नहाए भला खाना कैसे पकाऊँ।

सूरज की ओर देखा। सिर से पाँव तक सोचा कि आज तो उपवास ही कर लूँ। जब तक नहा-धोकर भोजन पकाने लगूँगी, तब तक तो शाम हो ही जाएगी। शाम में लक्ष्मी पूजन करूँ या खुद खाऊँ-पीऊँ। ऊपर से अब तक न खड़ लाई, न सौंठ। जब तक वह न आएगा तब तक ऊक कैसे बनेगा। दीपक भी बनाना पड़ेगा। तेल भी लाना पड़ेगा। घर में जो तेल है, वह तो गाढ़ा होकर जम गया है, दीपक में कैसे जलेगा।

काम देखते-देखते दुखनी को सब कुछ उलझन-सा लगने लगा। पर्व की सारी बातें भूल गई। नजर बेटी की ओर गई। बेटी का खयाल आते ही मन में खीज उठी। बोली- "इतनी बार संदेश भेजा, फिर भी क्यों नहीं आई।"

दुखनी असमंजस में पड़ गई। तभी नवानीवाली बाँसों के पास से आवाज लगाते हुए बोली- "काकी! काकी! दैया आगे आने को कह रहे हैं। उत्तरबरिया पोखर पर दोनों बच्चे और मोटर के साथ बैठे हैं।"

श्यामा की बात सुनकर दुखनी हड़बड़ा कर उठी, कपड़े घर में रखे और आँचल में रुपये बाँधकर चल पड़ी। तीन-चार बच्चे भी उसके साथ हो लिए। वहाँ पहुँचते ही श्यामा उठकर माँ के चरण छूने लगी। पैर छूते ही दुखनी बेटी पर झल्लाकर बोली- "अरे, तुम्हें अपनी जान की परवाह नहीं है जो इतना लादकर चली आई?"

माँ की बात को अनसुना करते हुए श्यामा ने दोनों बच्चों से कहा- "नानी के चरण छुओ।"

नातिनों को देखकर दुखनी जैसे पिघल गई। सब बातें भूल गई। आँचल से रुपये निकालकर एक-एक दस का सिक्का दोनों बच्चों के हाथ में रखा और बाकी अस्सी रुपये श्यामा की ओर बढ़ा दिए।

रुपये देखकर श्यामा के मन में खयाल उठा। शायद बौआ ने भेजा है।

मुस्कराते हुए माँ से पूछ बैठी- “क्या बौआ ने भेजे हैं?”

बौआ का नाम सुनते ही दुखनी का मन फिर उदास हो गया। नजर बेटे की ओर चली गई। बेटे का खयाल आते ही मन में गुस्सा उमड़ पड़ा। बोली- “कहाँ गायब हो गया है वह छोकड़ा, किसका ठिकाना है। आज तक न तो कभी कोई चिट्ठी भेजी, न ही एक पैसा। न जाने उधर किसी और औरत के पास बहक गया है कि क्या, किसे कुछ पता।”

माँ की बात रोकते हुए श्यामा बोली- “ऐसा क्यों बोलती हो। आप माँ हो, थोड़ा सँभलकर बोलो, यह ठीक नहीं।”

बेटी की बात सुनकर माँ का ध्यान बेटे से हटकर बेटी पर आ गया। बोली- “दोनों बच्चे और मोटर को कैसे लेकर आई हो?”

मुस्कुराते हुए श्यामा ने कहा- “स्वयं यहीं तक छोड़ गए हैं।”

जमाई की बात सुनकर दुखनी बोली- “एक कदम और घर तक क्यों नहीं आए जो लौट गए?”

श्यामा ने कहा- “नहीं माँ, ऐसी बात नहीं है। गाँव में मेला भी लग रहा है और पर्व भी है, इसलिए कहा कि घर तक गए तो ओझल हो जाएँगे। चार थान सामान अकेली माँ के बस की बात नहीं है। परसों लौटेंगे।”

“परसों” सुनकर दुखनी का मन ठहर गया। छोटे बच्चे को गोद में लेकर और बड़ी को आगे करते हुए वह विदा हुई। घर से ज़रा पीछे ही थी कि दक्षिण से एक गोरे को आते दोनों ने देखा। वह पैंट-शर्ट पहने था, लेकिन किसी ने पहचान न पाया। बदला हुआ चेहरा भुखना का। भुखना भी आँगन की ओर बढ़ रहा था और दोनों गोरे भी दुखनी के आँगन की ओर। घर के पास आते ही भुखना ने दुखनी से कहा- ‘माँ।’

‘माँ’ दुखनी ने सुना, पर अनजान समझकर टाल दिया। कुछ बोली नहीं। लेकिन श्यामा पहचान गई। बोली- “बौआ हो!”

‘बौआ’ सुनते ही दुखनी चौंक पड़ी। तभी तक भुखना पास आकर माँ के पैर छूकर प्रणाम कर चुका था। दुखनी अवाक रह गई। आँखों में आँसू भर आए।

नीचे से ऊपर तक भुखना को निहारने लगी।

कलेजा पिघल गया। बाईं बाँह से नाती को दबाए और दाहिने हाथ से आँसू पोंछती हुई विह्वल होकर बोली- "अरे बौआ, तू तो समर्थ हो गया है! पहचान ही न पाई। आगे-पीछे सब कुशल था न। इतने दिन बाद क्यों आया। क्या समझ बैठा था कि घर में कोई नहीं है। या मान लिया था कि मैं मर गई हूँ। रुपये न कमाया तो क्या हुआ, खाली हाथ ही सही, आते तो। अब तो मैं खुद बूढ़ी हो चली हूँ।"

श्यामा के सिर पर रखी गठरी पकड़कर भुखना बोला- "दाइ, तेरे माथे पर बोझ चढ़ गया होगा। दे।"

"नहीं-नहीं, क्यों लेगा तू। अब तो आँगन कोई दूर थोड़े ही है।"

लेकिन ज़बरदस्ती भुखना ने बहन के सिर से गठरी उतारकर अपने सिर पर रख ली। भीगे स्वर में दुखनी बोली- "बौआ, रास्ते भर तो भूखा ही आया होगा।"

"नहीं माँ, खाकर-पीकर ही चला हूँ।"

"बौआ, आँगन गया था या सीधे रास्ते से चला आया?"

"आँगन में थैला रख आया था। घर बंद देखा तो तमोरियावाली भौजी से पूछा। उसी ने कहा कि दाय को लेने काकी आगे गई हैं।"

भुखना की बात सुनकर दुखनी को गुस्सा आ गया। बोली-

"अरे बेटा, आँगन गया था तो भगवान को प्रणाम किया कि नहीं?"

"घर बंद देखा तो थैला ओसारे पर रखकर तुम्हें खोजने चल पड़ा।"

"मैं क्या कहीं बाहर निकल गई थी। तब तक तो हाथ-मुँह धोकर आँगन में भगवान को प्रणाम कर ही लेता, क्या यह तेरे बस में नहीं था। जब तक मुझे खोजने आया, अगर कोई थैला चुरा ले जाता, तो क्या करता?"

"माँ, मुझे देखते ही बेटी-बच्चे और परिवार के लोग सब आ गए। इतने लोगों में भला कौन थैला चुरा लेता।"

धीरे से माँ ने बेटी से पूछा- "दाइ, कुछ खाने-पीने का सामान है क्या?

देख रही हूँ, बेटे का मुँह कितना सूख गया है।”

“हाँ, है। अकेले द्वार पर बहुत कुछ नहीं था। पाँच दलीपुरी हैं।”

“अच्छा, बहुत बढ़िया। मैं तो अब तक नहाई भी नहीं हूँ।”

“क्यों? पर्व का दिन है, फिर भी नहीं नहाई?”

“छुट्टी भी नहीं मिली। सुबह से ही जारैन के ओरियान में लगी रही। बोझ उठाते-उठाते शरीर टूट गया। थक कर चूर हो गई। न तो खाना बनाया और न ही नहा पाई। ऐसे ही ओसारे पर लेट गई कि नींद आ गई। जोगिन्दर आया तो जगाया। नहीं तो सोई ही रह जाती। देख ही रही हो, शाम ढलने को है, न तो ऊक तैयार हुआ और न ही संध्या-दीप।”

आँगन में आते ही दुखनी ने भुखना से कहा- “बौआ, पहले हाथ-पैर धोकर सिरा के सामने भगवान को प्रणाम करो। फिर कुछ करना।”

भुखना ने वैसा ही किया। श्यामा भी घैला के पास जाकर घैला झुकाई और एक चुल्लू पानी नीचे गिराकर उसमें दोनों पाँव भिगोकर ओसारे से भगवान को प्रणाम की। पूरा आँगन बेटियों-बेटों और परिजनों की भीड़ से गूँज उठा। छोटे बच्चे भी अलग से काँइ-किचिर मचाए हुए थे।

इसी बीच जुगेसरा का बेटा, रविया के बेटे को पीछे से बिठुआ से काटकर जोर से घुसाने लगा। तिलमिलाकर रविया का बेटा पीछे मुड़ा तो शिबुआ की बेटी को देखा। समझा कि यही लड़की बिठुआ काटी है। तुरंत ही दो घूँसे जड़ दिए। घूँसे लगते ही शिबुआ की बेटी चीखते हुए रोने लगी।

शिबुआ की घरवाली भी पीछे खड़ी थी। बेटी को रोते देखकर गोद में उठाते हुए पूछा। बेटी ने रविया के बेटे का नाम बता दिया। उसकी बात सुनते ही वह दौड़ी और उस लड़के का कान मरोड़कर एक थप्पड़ जड़ दिया। तभी रविया की घरवाली भी आ पहुँची।

अपने बेटे को देखकर उसने पूछा। बेटे ने उँगली से इशारा करके शिबुआ की घरवाली को दिखाया। शिबुआ की घरवाली को देखते ही रविया की घरवाली आगे बढ़ी, उसके बाल पकड़कर मुँह पर थूक फेंक दिया। पूरा आँगन अफरा-

तफरी और हंगामे से गूँज उठा।

एक ओर छोटे-छोटे बच्चे डर से सहमने लगे, तो दूसरी ओर शोरगुल सुनकर और लोग भी आ पहुँचे। दुखनी के घर का द्वार बंद हो गया। जैसे-जैसे शिबुआ की घरवाली गालियाँ बकती, वैसे-वैसे रविया की घरवाली और जोर से उलटकर जवाब देती। क्योंकि स्त्रियों के झगड़े की यही खासियत है कि जो अंत तक गालियाँ देती रहे, उसी की जीत मानी जाती है।

आँगन का दृश्य देखकर भुखना और श्यामा ने दोनों की बाँहें पकड़-पकड़कर धक्का देते हुए अपने-अपने आँगन में पहुँचा दिया। भागे हुए बच्चे फिर लौटकर आने लगे। औरतों और बच्चों में भी दल बँट गया।

कुछ लोग शिबुआ की घरवाली का पक्ष लेकर खड़े हुए और कुछ रविया की घरवाली का। सब झगड़े को शांत करने लगे। हर कोई एक-दूसरे पर दोष डालते हुए अपने पक्ष को निर्दोष साबित करने की जुगत करने लगा। लेकिन जैसे तालाब में पत्थर फेंकने पर पानी में हलचल उठती है और धीरे-धीरे थम जाती है, वैसे ही मामला शांत हो गया।

तभी दुखनी का आँगन तो शांत हो गया, लेकिन बाहर गली और अन्य जगहों पर दबी-दबी फुसफुसाहट चलती रही। जैसे किसी गाँव या घर में आग लगने पर पानी डालते ही बुझ जाती है, पर उसकी गरमी देर तक बनी रहती है, वैसा ही हाल रहा। बाकी लोग तो आँगन से निकल गए, शांति हो गई, लेकिन दुखनी के मन में मानो अचानक आग धधक उठी।

श्यामा की ओर देखकर वह जोर से बोल उठी- "हमने किसी को बुलाने थोड़े ही भेजा था कि आकर पर्व के दिन आँगन में झगड़ा करे। पर्व कोई एक दिन के लिए होता है या साल भर के लिए! साल भर आँगन में झगड़ा होता ही रहेगा। ऊपर से अगर कोई डोरी बाँटकर पिछवाड़े बाँध दे, तो फिर तो साल भर झगड़ा होता ही रहेगा।"

माँ की बातें बंद कराने के लिए टोकते हुए श्यामा बोली- "बेकार में क्यों अपना आपा खो रही हो। तेरे आँगन में कौन आकर बँटवारा करेगा जो साल भर झगड़ा चलता रहेगा।"

बेटी की बात सुनकर दुखनी चुप हो गई, लेकिन उसका मन भीतर ही भीतर तमतमाता रहा। घर से बिछावन निकालकर श्यामा ने आँगन में बिछाया और अपनी गठरी खोल दी।

एक पाथी चावल, करीब सवा सेर खेसारी की दाल, पाँच दलिपुड़ी, अपने और बच्चों के कपड़े निकालकर सहेजकर रख दिए। पाँचों पुड़ियों में से दो भुखना को, एक-एक करके दोनों बच्चों के हाथों में दे दी। एक पुड़ी अपने लिए और एक माँ के लिए रख ली।

फिर बैग खोलकर भुखना ने रुपये की गड्डी निकालते हुए माँ को थमाई-

"माँ, यही कमाकर लाया हूँ।"

रुपये देखकर माँ और बहन दोनों बोल उठीं- "ढँक दो! छिपा दो, ढँक दो! लोग देख लेंगे!"

रुपये छिपाकर भुखना ने दो जोड़ी साड़ी, आँगी और साया के कपड़ों के साथ दोनों बच्चों के लिए शर्ट-पैंट निकालकर आगे रख दिए।

कपड़े देखकर दुखनी अचंभित हो गई। मन ही मन सोचने लगी, जो बिखर गया है, वही तो संतान का धन है। फिर पति की याद आ गई। मन में विचार उठा, भगवान किसी को अधूरा नहीं छोड़ते।

मन ही मन पति के चरणों में श्रद्धा भाव से झुकते हुए दुखनी बोली- "इन्हीं बेटे-बेटी की आश पर तो अपना बुढ़ापा काट रही हूँ। संतोष का वृक्ष ही तो फल देता है।"

माँ को विस्मित देखकर भुखना ने बिस्कुट का डिब्बा निकाला और माँ के हाथ में देते हुए कहा- "माँ! यह मक्खन वाला बिस्कुट है, तुम्हारे लिए ही लाया हूँ।"

बिस्कुट का डिब्बा हाथ में लेकर दुखनी उसे उलट-पुलट कर देखने लगी। दोनों बच्चों और श्यामा की नजरें भी डिब्बे पर टिक गईं।

इसी बीच भुखना ने शरीर में लगाने वाला दो खुशबूदार साबुन, दो कपड़े धोने के साबुन और पौआ भर नारियल तेल का डिब्बा निकालकर माँ के सामने

रख दिया।

चीजें देखकर दुखनी का मन हुलस उठा। मन में ऐसा लगने लगा जैसे वह आकाश में उड़ रही हो, या नरक से स्वर्ग में चली आई हो, या कोई सपना देख रही हो।

खुद को संयमित करते हुए दुखनी बोली- “पर्व का दिन है, पहले सब कोई खा ले ले। हम अभी नहीं खाएँगे। दिन भर थकी हूँ, अब साँझ की वाती देकर खाएँगे।”

फिर मन में आया कि गोसाईं डूबने पर हैं, अब तक तो पर्व की कोई तैयारी भी नहीं हुई! न तो ऊक पकाने के लिए खढ़-सन्ठी लाई हूँ, न दियारी बनाई, न दियारी के टेमी बनाने के लिए कोई साफ-सुथरा कपड़ा देखा और न ही दुकान से तेल ही लाया।

ऊपर से बेटा-बेटी दोनों आ गए हैं, अगर दो-चार तरह की सब्जी भी नहीं बनी तो कैसी लक्ष्मी पूजा होगी! एक तो लक्ष्मी पूजा है, और ऊपर से इतने दिन बाद बेटा आया है!

पुड़ी खाकर और पानी पीकर श्यामा माँ से बोली- “चिकनी मिट्टी सानकर दियारी बना लेते हैं। तू दुकान का काम जल्दी निपटा ले, नहीं तो किरिन भी पूजा-पाठ में लग जाएगा और दुकान भी नहीं कर पाएगा।”

बेटी की बात सुनकर दुखनी बोली- “हाय दैया! अगर दुकान-दौरी के काम में उलझ जाएँगे तो खढ़-सन्ठी कब लाएँगे और ऊक कब बनाएँगे?”

काम का बोझ देखकर भुखना माँ से बोला- “तू दूसरा काम देख, दुकान का सामान हम ले आते हैं।”

बेटे की बात सुनकर दुखनी बोली- “कहीं तू अनजान समझ दुकानदार तुझे ठग न ले।”

माँ की बात सुनकर भुखना हँस पड़ा। मन में आया, शहर-बाजार घूमने वाला मैं, और गाँव का बनिया मुझे ठग लेगा! मगर कुछ बोला नहीं।

माँ को रोकते हुए श्यामा बोली- “अब जो कोई खढ़-सन्ठी माँगने जाएगा,

वही देगा क्या! पूजा का समय हो चुका है। कल ही क्यों नहीं मँगवा ली। या आज दोपहर से पहले ही मँगवा ली होती। अब लोग अपनी चीजें समेटकर घर ला चुके होंगे, तो क्या तुझे अपनी खढ़-सन्ठी देंगे?"

बेटी की बात सुनकर दुखनी निराश हो गई। ऊक (कंडे) बनाने की उम्मीद टूट गई। वह बोली- "हम तो बूढ़ हो गए। अब क्या किसी पर्व-त्योहार की ठिकाना रह गई है।"

माँ की टूटी आशा देखकर श्यामा उसे सँभालते हुए बोली- "खढ़-सन्ठी छोड़ ही दो। ऊक नहीं बनेगा तो क्या होगा। गोसाईं बाबा से कह देंगे कि बहुत झंझट हो गया था। पान नहीं तो पान के डंठल से ही पूजा कर ली।"

समझौता करती हुई दुखनी बोली- "ठीक है, खढ़-सन्ठी छोड़ देती हूँ। तू चिकनी मिट्टी से दियारी बना ले। ज़रा रूखी करके मिट्टी लगा देना। नहीं तो अब नहीं सूखेगी। दिन भी ढल गया है। धूप ठंडी हो गई है। मैं दुकान का काम करके आती हूँ।"

इसी बीच भुखना बोला- "माँ, तू आँगन का काम देख। मैं दुकान का काम कर आता हूँ।"

"हाय दैया, शुभ-शुभ बोल। तू गाँव आया है, तुझे कैसे दुकान जाने दूँ? लोग क्या कहेंगे?"

"लोग क्या कहेंगे?"

"क्या कहेंगे! तुरंत लोग कटाक्ष करने लगेंगे कि फलनी की खापैड़ कैसी बिगड़ गई है, अभी बेटा परदेस से आया और उसे दुकान भेज दिया।"

"कोई कुछ नहीं कहेगा। किसी और का काम है क्या जो कोई कुछ कहेगा। सबके बोलने का काम है क्या?"

"एक रुपये का नमक, दो सब्जियाँ बनानी हैं इसलिए पाँच रुपये का थोड़ा तेल भी ले लेना। आठ आने की जीरा-मिर्च, आठ आने की हल्दी और आठ आने की मिर्ची भी ले लेना। आलू तो घर में है ही नहीं, तलने लायक आलू भी ले लेना। दो पापड़ भी ले लेना। आज लक्ष्मी पूजा भी है, तो आठ आने का मखाना

और आठ आने की चीनी भी ले लेना। और हाँ, पूरी रात दीया जलेगा, इसलिए थोड़े-से मिट्टी के तेल भी ले लेना।"

"और कुछ?"

याद करते हुए दुखनी बोली- "अब तो लोग धूमन की धूप देना छोड़ ही चुके हैं, इसलिए एक धूपबत्ती भी लेते आना।"

श्यामा दीवार बनाने के लिए चिकनी मिट्टी को लोढ़ी से कूटने लगी। भुखना दुकान के लिए निकल गया। दुखनी का मन बेचैन हो गया। मन अशांत होते ही बेटी से बोली- "बुच्ची, अब मैं नहाने जा रही हूँ। सूरज भी ढलने लगा है।"

"बौआ जो साड़ी लाया है, वही पहन लेना।"

'बेटे की लायी साड़ी' सुनकर दुखनी जैसे हरस गई। मन में नाचने लगा, बेटे द्वारा खरीदी गई पहली साड़ी! जब से पति गुज़रे, तब से कभी नई साड़ी नसीब नहीं हुई। हाँ, बेटी अपनी पहनी हुई साड़ी सालों-साल देती रही, इसलिए कभी कपड़े की कमी नहीं खली..।

सरकारी चापाकल के पास पहुँचते ही दुखनी को कुछ याद आ गया। साड़ी-लोटा चापाकल के पास रखकर, तुरंत घुमकर आँगन आई और बेटी से बोली- "दाइ, एक बात याद आ गई। भूल जाती तो कहने भी न आती।"

चकित होकर श्यामा ने पूछा- "कौन-सी बात याद आई?"

दुखनी बोली- "बच्चा जब दुकान से लौटे, तो कह देना कि अगली चौमास (बरसात) की बिक्री है, दो ही कट्ठा है। खरीद ले। अब हमारे एक ही घर से काम चल रहा है, लेकिन नहीं, इस साल नहीं तो अगले साल उसकी शादी कर ही देंगे। बाल-बच्चे होंगे। नहाने-धोने के लिए कहाँ जाएगा। लोग जानवर पालेंगे तो बाँधेंगे भी तो कहाँ।"

श्यामा- "ठीक है, पहले नहा लो। बौआ जब दुकान से लौटेगा तो मैं याद दिला दूँगी।" ❑

चार: क

आज तक के इतिहास में बंसपुरा का ऐसा रूप कभी नहीं बना था, जैसा आज देखने को मिल रहा है। हाँ, कुछ अनुभवी बुजुर्गों का कहना है कि आज का बंसपुरा दरअसल दोबारा बसाया गया गाँव है। उनके अनुसार लगभग साठ-सत्तर साल पहले इस गाँव में कोसी नदी ने प्रवेश किया था। उस समय जो गाँव था, उसकी रूप-रेखा बिल्कुल अलग थी। आज की जो मुख्य बस्ती है, वह पहले बाँध हुआ करती थी, और जो बस्ती थी, वह अब बाँध में तब्दील हो चुकी है। इसका प्रमाण आज भी मिलता है।

आज भी बाँध के कुछ हिस्सों में पीतल और ताँबे के बर्तन पाए जाते हैं। उस पहलेवाले गाँव में बहुत-से बाग-बगिचे और पेड़-पौधे हुआ करते थे। लेकिन तब न आज की तरह इतने लोग थे, न इतने परिवार। जब पहली बार कोसी की बाढ़ आई, तो लोगों को विश्वास ही नहीं हुआ कि यह कोसी का पानी है।

पर कुछ अनुभवी लोगों ने पानी का रंग देखकर पहचान लिया। क्योंकि कमला नदी के पानी की तरह वह घना, मटमैला और कीचड़ भरा नहीं था। उसमें गाद की कोई गंध भी नहीं थी। पहले साल बस इतना हुआ कि एक झटका बाढ़ आई और दस-बारह दिन बाद घट गई। दोबारा लौटकर नहीं आई।

लेकिन दूसरे साल जो बाढ़ आई, उसने गाँव के बीचोंबीच नाला जैसा बहाव बनाकर छोटी सी धारा की शक्ल ले ली। उस साल गाँव के लोगों को यह एहसास ही नहीं हुआ कि इस तरह गाँव के बीचोंबीच धारा बन जाएगी। लोग वहीं गाँव में बने रहे। बाँध के ऊँचे हिस्से में अपने घर बना लिए। क्यों नहीं बनाते? एक तो पुश्तैनी गाँव का मोह, और फिर अपनी ज़मीन-जायदाद भी तो वहीं थी।

छह महीने बाद वह धारा सूख गई। लेकिन खेत की उपज और पेड़-पौधे आधे-अधूरे रह गए। कुछ लोगों का पशुधन भी बर्बाद हो गया। अमरूद, धात्री (आँवला), बेल, कटहल आदि के पेड़ उखड़ गए, दो तालाब और पाँच कुएँ उस

धारा के पेट में समा गए। जिससे लोगों के मन में डर समाने लगा। गाँव की मिट्टी-पानी से जुड़ा लगाव भी धीरे-धीरे कम होने लगा। लोगों को अपनी ज़िंदगी अब अनिश्चित लगने लगी। कुछ लोग दूसरे गाँव जाकर बसने का मन बनाने लगे।

लेकिन जिनके पास खेत-खलिहान थे, वे भी छाती पर पत्थर रखकर वहाँ रहने को विवश हो गए। तीसरे साल जो बाढ़ आई, वह अब तक की सबसे भयानक थी, जिसने गाँव के खेतों-खलिहानों को तबाह कर दिया, पेड़-पौधे नष्ट हो गए, और लोगों की जान भी संकट में पड़ गई। छाती पीटते हुए सबने गाँव छोड़ दिया। कोसी का प्रवाह अब सीधे गाँव के ऊपर से बहने लगा।

तीस वर्षों तक, एक ही रफ्तार से कोसी बंसपुरा को बहाती रही। गाँव के सभी लोग अन्य गाँवों में जाकर मेहनत-मज़दूरी करने लगे। जिसे जहाँ जीने की सुविधा लगी, वहीं जाकर बस गया। अधिकांश लोग नेपाल की ओर चले गए। जब तक किसी के पास अपनी पूंजी होती है, तब तक वह किसान या व्यापारी कहलाता है, लेकिन पूंजी के नष्ट होते ही आदमी केवल खाली हाथ रह जाता है।

बंसपुरा के सारे लोग श्रमिक बन गए। कोसी के आने से पहले जो सामाजिक संबंध बंसपुरा के थे, वे सारे बिखर गए। पुराना समाज खत्म हो गया। बंसपुरा के सारे सुख-संस्कार लोगों के स्मृति से लुप्त हो गए। मातृभूमि किसे कहते हैं, यह परिभाषा बंसपुरा के लोगों के लिए धुँधली पड़ गई।

मातृभूमि और दुनिया में फर्क क्या है..?

यदि जन्मभूमि को ही मातृभूमि माना जाए, तो उन सभी लोगों की मातृभूमि नष्ट हो गई, जिन्होंने बंसपुरा में जन्म लिया था। क्योंकि वे अब अन्य गाँवों में रहने लगे हैं। यदि कभी बंसपुरा फिर से जागता है, तो वे लौटकर देख सकते हैं। परंतु जो लौटेंगे, वे तो कहीं और जन्मे होंगे, तो उनकी मातृभूमि कौन सी होगी?

यदि देश को मातृभूमि माना जाए, तो देश भी विभाजित हो जाते हैं। वे अनेक नाम धारण कर लेते हैं, तो फिर देश को मातृभूमि कैसे माना जा सकता है? यदि यह माना जाए कि जिस धरती पर मनुष्य जन्म लेता है वही उसकी मातृभूमि है, तो सारी दुनिया की धरती एक ही है, फिर मातृभूमि को सीमित

आकार में क्यों स्वीकार करते हैं? क्यों न पूरी पृथ्वी को ही मातृभूमि माना जाए?

कोसी की धारा जब पीछे हटी, तब बंसपुरा ने फिर से होश सँभाला, पर उसका चेहरा बदल चुका था। पहले की उपजाऊ माटी अब रेतीली हो चुकी थी। पेड़-पौधों की जगह कांस-पटेर और झाड़-झंखाड़ उग आए थे। लोग अपने पुश्तैनी गाँव को पहचानते हुए फिर से वहाँ लौटने लगे।

किसी के पास ज़मीन का प्रमाण नहीं था, न खतियान, न दस्तावेज़, न ही यह तय था कि किसकी ज़मीन कहाँ है। पर गाँव तो गाँव होता है। जैसे कभी आदिम युग में लोगों ने जंगल काटकर बस्तियाँ बसाईं और उपजाऊ ज़मीन तैयार कर सरकार से पट्टा पाया, उसी तरह बसा हुआ यह गाँव, बंसपुरा, भी है।

जिस तरह एक समय बंसपुरा पानी में डूब गया था, ठीक उसी तरह अब वहाँ पानी की कमी हो गई है। न तो कोई तालाब बचा है, न कुआँ, और न ही बाढ़ का पानी आता है। अब लोग तालाब-कुआँ खुदवाने के बजाय हैंडपंप के सहारे पानी की जरूरत पूरी करते हैं। खेती भी अब वर्षा जल पर ही निर्भर हो गई है। ऊँची जमीनों को बाँध-बाँध कर लोग फिर से तालाब की उपयोगिता पाने लगे हैं, जिनमें मछली, मखाना और सिंघाड़ा भी होता है।

उसी बंसपुरा में आज दिवाली और काली पूजा का उत्साह लोगों की नस-नस में दौड़ रहा है। आस-पास के गाँवों से आने वाले दर्शकों के स्वागत के लिए गाँव के चारों दिशाओं में जितनी भी टूट-फूट या बिखराव थे, सबको गाँववालों ने पूरी तरह सुधार दिया। जहाँ कहीं जंगल या झाड़ी थे, वहाँ भी साफ-सफाई कर ली गई।

यद्यपि सरकार की ओर से भी बाँध और सड़क पर मिट्टी डलवाई जाती है, लेकिन वह ऐसे बिछती है जैसे दूध की धार हो, जो बरसात में बहकर समाप्त हो जाती है। इसलिए स्थिति जैसी की तैसी बनी रहती थी। परंतु इस बार गाँववालों ने उसे अपनी जिम्मेदारी समझकर अच्छे से मरम्मत कर दी है। केवल बाँध और सड़क ही नहीं, गाँव के जितने भी जलस्रोत हैं, सभी की मरम्मत की गई है। भले ही वैशाख-जेठ की तरह अधिक पानी नहीं पीना पड़ता, लेकिन पानी तो पीना ही होता है।

गाँववालों के लिए सबसे बड़ा आश्चर्य यह रहा कि अचानक सभी को अपनी जिम्मेदारी का अहसास कैसे हो गया?

सिर्फ पानी की व्यवस्था ही नहीं, बल्कि बाहर से आने वाले मेहमानों, रिश्तेदारों और यहाँ तक कि अनजान दर्शकों के लिए भी व्यवस्था की गई। जिनके पास पहले से दरवाज़ा-दालान था, उनके लिए तो कोई दिक्कत नहीं, लेकिन जिनके पास नहीं था, उन्होंने भी बड़े-बड़े प्लास्टिक लाकर अपने घर जैसे टेंट बना लिए।

सभी के मन में उल्लास था- “देखो, कितने मेहमान आएँगे!” सोने के लिए भी लोगों ने पर्याप्त मात्रा में मोटा मोथ (घास-पुआल) खरीदकर रख लिया है। अभी तो यह अनजान लोगों के लिए है, लेकिन पूजा के बाद तो खुद के लिए भी उपयोगी होगा, खाने-पीने और सुख के समय।

वैसे भी, जो लोग मेला देखने आएँगे, वे सोएँगे या मेला देखेंगे, यह बात और है। परंतु जो पूरी रात मेला देखेंगे, उन्हें दिन में तो सोना ही पड़ेगा!

रघुनाथ को धन्यवाद देना चाहिए कि खाने-पीने के सारे सामान, चावल, दाल, सब्ज़ी से लेकर अगरबत्ती-लकड़ी तक का ऐसा कारोबार जमा लिया है कि चाहे जितना भी लोग खरीदें-बेचें, फिर भी माल की कमी नहीं होगी। एक ही मेले की कमाई में वह अमीर हो जाएगा। पूजा-पाठ भी उसी ने कराया है। उसकी बोली भी ऐसी मीठी है कि कोई भी ग्राहक बिना कुछ खरीदे लौट नहीं सकता। उसकी दुकान पर हमेशा भीड़ लगी रहती है। कहते भी हैं न- ‘जिसे भगवान देना चाहते हैं, उसे छप्पर फाड़कर देते हैं।’

हालाँकि दुकान उसने घर पर ही लगाई है। अगर मेला-स्थल पर लगाता, तो गाँववालों को समाज के सामने शर्मिंदगी होती, क्योंकि मेहमानों और बाहरवालों के सामने कोई चावल-दाल कैसे बेचेगा?

लेकिन सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि गाँव में इतने सारे मेहमान और रिश्तेदार कैसे उमड़ आए, कि लगता है मानो किसी को कोई और काम ही नहीं है। औरतों की संख्या तो पुरुषों से तीन गुना है। खासकर, 15 से 25 वर्ष की युवतियाँ बहुतायत में हैं। वे भी कोई साधारण ढंग से नहीं, बल्कि हर एक दो-

चार मेलों का अनुभव लिए हुए, सज-धज के आई हैं। ऐसी भीड़ में तो गाँव की हवा में कोई न कोई खतरनाक कीड़ा तो पनपेगा ही!

बम्बई से आए हुए लोग भी क्या केवल जवानों को ही देखते हैं? वे बूढ़ों को भी गौर से देखते हैं। जैसे कोई अनजाना पक्षी गाँव में आ जाए तो सब लोग उसे देखने उमड़ पड़ते हैं, वैसे ही बम्बई के लोग भी इन्हें देखेंगे। अगर नहीं भी देखेंगे तो क्या? अनुचित ही तो होगा! आखिर, उन लोगों ने ऐसा रूप क्यों रचा है? देखने के लिए ही न! अगर देखने की चाह न होती तो ऐसी सजावट का औचित्य ही क्या था?

और फिर जब सज गए हैं, और कोई देखता नहीं, तो इस सजावट की कीमत ही क्या रह जाती है? उसकी असली कीमत तो तब है जब लोग उसे बार-बार निहारें, ऊपर से नीचे तक देखें।

क्या उनके आकर्षण का असर गाँव और देहात पर नहीं पड़ता? जरूर पड़ता है। यही बम्बई के कलाकारों ने तो सिनेमा के माध्यम से गाँव के लोगों को सिखाया है, कैसे देखना है, क्या देखना है। आदमी का मन भी अजीब होता है। जब थोड़ा ऊपर उठता है तो उसे लगता है कि वह ज़मीन की सारी चीज़ें देख रहा है, पर कोई उसे नहीं देखता।

लेकिन यही भ्रम ज़मीन पर रहने वालों को भी होता है। ऊपर उड़ने वाला अगर ज़मीन की सतह देखता है, तो ज़मीन पर रहने वाला भी उसका नीचे का हिस्सा तो देख ही लेता है।

चार बजते-बजते मेला देखने वालों की भीड़ काली-स्थान पर उमड़ पड़ी। हालाँकि गाँव के बूढ़े-बुज़ुर्ग अपने-अपने घर और आँगन की तैयारियों में ही व्यस्त थे। उनके सिर पर सूर्यास्त से पहले दीप जलाने और पूजा की अंतिम तैयारियाँ पूरी करने की चिंता सवार थी। लेकिन दूसरे गाँवों से आए लोगों को इन बातों से क्या मतलब? वे तो सिर्फ मेला देखने के लिए आए हैं। सबसे दिलचस्प बात यह थी कि मेला देखने वाले खुद भी एक 'देखे जानेवाली चीज़' बन गए थे।

पूजा समिति के सदस्य जिम्मेदारी से काम में जुटे थे, सभी जान लगाकर निगरानी भी कर रहे थे और व्यवस्था भी। पूरा मेला धीरे-धीरे सज-संवरकर तैयार

हो रहा था। वैसे तो पूजा की विधि आधी रात से शुरू होनी थी, लेकिन सारी तैयारी तो पहले से करनी पड़ती है। ऐसा कैसे होगा कि एक ओर पूजा शुरू हो और दूसरी ओर सामान जुटाया ही न गया हो? जिन चीज़ों की ज़रूरत पूजा के समय पड़ती, उसकी व्यवस्था पहले से नहीं की गई हो? इसलिए पुजारी और पुरोहित अपनी सामग्री, पूजा की पुर्जियाँ और वस्तुएँ, एक-एक कर गिन-गिनकर, सहेज-सहेजकर रख रहे थे।

वैसे, मेले का असली आनंद तो पूजा शुरू होने के बाद ही आता है। नाच-तमाशा भी उसी वक़्त शुरू होता है। फिर भी, यदि सब कुछ सोलह आने न भी हो, आधा-अधूरा ही क्यों न हो, मेला का आकर्षण तो पहले से ही अपने चरम पर पहुँच गया था।

सबसे विचित्र बात यह हो गई थी कि दर्शक खुद प्रदर्शन का हिस्सा बन गए थे। बाजारू संस्कृति ने ऐसा रूप ले लिया था कि लड़का-लड़की का भेद ही मिट गया था। चश्मा उतार-उतार कर बूढ़े-बुज़ुर्ग लोग आँखें मल-मल कर देख रहे थे, यह लड़का है या लड़की? पर आँखें भी अब ठीक से साथ नहीं दे रही थीं।

हर कोई अपने-अपने आकर्षण में खोया हुआ था। तभी, 'फटाक', 'फटाक', पटाखों की आवाज़ें गूँज उठीं।

फटाक-फटाक की आवाज़ सुनते ही सबके कान खड़े हो गए। जो जहाँ था, वहीं से कान लगा कर सुनने लगा। लेकिन दुकानें इस तरह सजी हुई थीं कि आवाज़ सीधी-सीधी निकल ही नहीं पा रही थी। जो लोग नज़दीक में थे, वे न केवल आवाज़ सुन पा रहे थे, बल्कि झगड़ा होते हुए देख भी रहे थे। कुछ लोग बाहर की ओर भागने लगे और कुछ दौड़ते हुए उस ओर आने भी लगे।

उत्तर दिशा से देवन और पश्चिम दिशा से मंगल भीड़ को चीरते हुए तेजी से वहाँ पहुँचे। आगे पहुँचते ही उन्होंने देखा कि बीस-पच्चीस साल के दो युवक 'चेस्टर' नाम की दुकान के सामने आपस में थप्पड़ और मुक्के से भिड़े हुए हैं। दृश्य देखकर देवन और मंगल दोनों ही सहम गए।

इसी बीच जोगिन्दर दौड़ते हुए पहुँचे और दोनों हाथ फैलाकर उन लड़कों को पकड़ कर अलग कर दिया। शोरगुल शांत हुआ। देवन ने उनमें से एक लड़के

से पूछा- “बेटा, अभी तो पूजा-पाठ का समय है, फिर क्यों झगड़ा किया?”

लेकिन जिससे पूछा गया था, वह लड़का कुछ ज़्यादा ही पिट चुका था, इसलिए जब तक वह कुछ कह पाता, तब तक दूसरा बोलने लगा। लेकिन उसे डाँटते हुए जोगिन्दर बोले- “तूँ चुप रह! पहले जिससे पूछा गया है, वही बोलेगा।”

लेकिन जोगिन्दर की बात का उस लड़के पर कोई असर नहीं हुआ। दोनों ही दूसरे गाँवों से आए हुए मेहमान थे, इसलिए पूजा समिति के सदस्यों के लिए यह एक कठिन परिस्थिति बन गई। एक अजीब स्थिति खड़ी हो गई थी। अधिकतर लड़के और लड़कियाँ परदेसी ही थे, इसलिए मारपीट का डर किसी को भी नहीं था।

इसी बीच लड़कियाँ ज़ोर से बोल उठीं- “ब्रैजियर की दुकान पर लड़कों को आने की क्या ज़रूरत है? यह तो स्त्रियों की वस्तु है।”

लेकिन लड़के लड़कियों की बात मानने को तैयार नहीं थे। एक तीसरा लड़का बोल उठा- “लड़कियों के उपयोग की चीज़ है, इसका मतलब यह तो नहीं कि इसकी ज़रूरत लड़कों को नहीं है।”

एक लड़की तुरंत पूछ बैठी- “लड़कों को इसकी क्या ज़रूरत है?”

लड़की फिर बोली- “हमारा भी परिवार है और हमारी भी अपनी इच्छाएँ और अपेक्षाएँ हैं।”

लड़का-लड़की के बीच यह बहस जब ज़्यादा बढ़ने लगी और बात पूरी तरह से गम्भीर हो गई, तब देवन बोले- “अभी सब शान्त हो जाओ। इस मामले का समाधान मेले के बाद किया जाएगा। अभी शांति से सब लोग मेला देखो।”

इस समय सूर्यास्त का समय था। सूरज पूरी तरह नहीं ढला था, लेकिन नीचे की ओर झुक चुका था और लोगों की नज़रों से ओझल हो चुका था। गाँव की बहन-बेटियाँ और समझदार स्त्रियाँ फूल की टोकरी में दीया, माचिस, अगरबत्ती और कपूर की बत्तियाँ लेकर गाँव के सभी देवस्थानों की ओर निकल पड़ीं। जैसे पूरे गाँव में एक धार्मिक लहर दौड़ गई हो। कोई ‘डिहबार स्थान’ की ओर जा रहा था, तो कोई ‘महादेव मंदिर’ की ओर। कोई ‘धर्मराज के गहवर’ जा

रहा था तो कोई 'हनुमानजी के स्थान' की ओर।

गाँव में पहले से पाँच पुराने देवस्थान थे। छठा 'काली स्थान' बाद में बनवाया गया था। पहले ठकुरवारी व्यक्तिगत हुआ करती थी, लेकिन महंत जी की मृत्यु के बाद वह भी सार्वजनिक हो गई। हर जगह दीप जलाए गए, धूप दिए गए और लोग अपने-अपने आँगन लौटकर घर-आँगन में भी दीप जलाने लगे। मवेशियों के थान, कुओं और हैंडपंपों पर भी दीप जलाए गए।

कुछ लोगों ने कुम्हार द्वारा बनाई गई मिट्टी की दीयों में दीप जलाए, तो कुछ लोगों ने दवा की खाली काँच की शीशियों को दीये की तरह इस्तेमाल कर जलाए। सारा गाँव रोशनी से जगमगा उठा। काली स्थान के चारों कोनों में जनरेटर चलाए गए, जिससे रात में अंधकार के बावजूद गाँव दिन जैसा उजला लगने लगा। वैसे, जितनी ऊँचाई पर दिन में बादल होते हैं, रात में अंधकार उतना ही नीचे उतर आया लगता है।

दीवाली के त्योहार से पूरा गाँव निहाल हो गया था। महिलाएँ रसोई और भोजन की तैयारी में लग गईं। जैसे ही समय मिला, पुरुष मेला देखने निकल पड़े। मेले की चकाचौंध देखकर किसी का मन घर लौटने को नहीं कर रहा था। लेकिन पूरी रात तक नाच-तमाशा चलनेवाला था, ऐसे में बिना खाए-पिए रहना भी कठिन लगने लगा, इसलिए सबने अपने-अपने घर-आँगन का रास्ता पकड़ लिया।

काली मण्डप में पुजारी पूजा की तैयारी में व्यस्त थे।

मुज़फ़्फरपुर के नाटकों जैसा मंच सजाया गया था। इतना भव्य मंच इस इलाके के लोगों ने पहले कभी नहीं देखा था, जितना फैला हुआ स्टेज, उतने ही सुन्दर-सुन्दर रंग-बिरंगे पर्दे। मंच भी इतना ऊँचा कि चाहे जितनी भीड़ हो, सबको दृश्य साफ़ दिखे। बिजली की सजावट अनोखे ढंग से की गई थी। ध्वनि व्यवस्था भी वैसी ही थी।

मुज़फ़्फरपुर के मंच से केवल थोड़ा ही कम था वृंदावन का रासलीला मंच। दोनों में फर्क स्पष्ट महसूस हो रहा था, जैसे आधुनिकता की झलक मुज़फ़्फरपुर के मंच पर दिखती थी, वैसी ही परम्परागत भव्यता वृंदावन के मंच

पर।

क़व्वाली का मंच उतना दमदार नहीं लग रहा था, लेकिन मेल-फीमेल दोनों मंच पास-पास होने के कारण आकर्षण बना हुआ था।

महिंसोंथा की मलिनियाँ नाच का मंच सबसे सादा था। केवल चार-पाँच चौकियाँ ज़मीन पर जोड़कर और चार खंभे गाड़कर ऊपर रंग-बिरंगा कपड़ा और एक पर्दा टाँग दिया गया था। मंच सादा था, फिर भी वहाँ के कलाकारों के मन में उत्साह विशेष रूप से था, जैसे उन्हें विश्वास हो कि वे सबको झकझोर कर रख देंगे।

उनका मन इसलिए भी प्रसन्न था कि केवल टिप-टॉप से नहीं, बल्कि अपने मौलिक अंदाज़ से वे सबका मन जीत लेंगे। उन्हें विश्वास था कि जो मौलिकता उनके भीतर है, वह किसी और में नहीं। और, जितने दर्शक उनके पास हैं, उतने किसी और के पास नहीं।

जैसे बाज़ार में कई दुकानें होती हैं लेकिन सोना-चाँदी खरीदने वाला सोने-चाँदी की ही दुकान पर जाता है, किताब चाहने वाला किताबों की ही दुकान ढूँढ़ता है, ठीक उसी तरह नाच-तमाशे में भी हर दर्शक अपनी पसंद के मंच पर ही पहुँचता है।

रात के नौ बजते-बजते मंचों के सामने दर्शकों की भीड़ उमड़ने लगी। और भला क्यूँ नहीं उमड़ती? नज़दीक से देखना और दूर से देखने में फ़र्क तो होता ही है। लेकिन पूजा समिति के सदस्य पहले से सोच रखे थे कि सामने की पंक्तियों में बाहर से आए लोगों को बैठाएँगे। गाँव के लोग तो खड़े-खड़े भी पीछे से देख सकते हैं। और फिर बाहर वालों का कोई ठिकाना नहीं कि हर बार मेले में आएँगे। लेकिन गाँव वालों के लिए तो यह अपना ही मेला है, वे तो हर साल आएँगे ही।

कलाकारों ने अभी तक मेकअप भी नहीं किया था कि दर्शकों ने खीझना शुरू कर दिया। आखिर करें भी क्यों नहीं? वे देखने आए थे, बैठने नहीं। कम-से-कम जिनको गाना-बजाना करना है, वे तो मंच पर आकर तैयारी शुरू करें। तैयारी में भले एक-आध घंटा लगे, लेकिन मंच तो अब तक खाली ही पड़ा है।

दर्शकों को लग रहा था जैसे पैसे देकर आए हैं, भीख माँगकर नहीं, फिर क्यों समय यूँ ही खींचा जा रहा है? जनसेवा दल के सदस्य कभी मंच पर जाकर लोगों को शांति से बैठने को कहते, तो कभी मर्दों और स्त्रियों की उखड़ती भीड़ को संभालते।

चारों मंचों से अब ध्वनि व्यवस्था की आवाज़ें गूँजने लगीं। दर्शकों के मन लहरों-सा झूमने लगा। कोई मन-ही-मन गुनगुनाने लगा, कोई उंगलियों से अपनी हथेली या घुटनों पर ताल देने लगा।

पूर्व दिशा से एक हलकी-सी पुरवाई चली। हवा चलते ही दर्शकों का चंचल मन थोड़ा शांत हुआ। धीरे-धीरे हवा तेज़ होती गई। काले बादल भी मोटे होते गए। अचानक तारे ओझल होने लगे। जैसे-जैसे बादल छाने लगे, वैसे-वैसे हवा और तेज़ होती गई।

काली-मण्डप में पुजारी घड़ी देखकर पूजा की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने लगे। गाँव की स्त्रियाँ माँ को समर्पित भजन-गीत गाने लगीं। उसी क्षण बादल ने ज़ोर से अपनी आवाज़ सुनाई। हवा भी तूफ़ानी होने लगी। बूंदाबांदी शुरू हो गई।

हालांकि किसी के मन में बारिश का शक नहीं था, क्योंकि दिनभर धूप तेज़ रही थी। सब यही मान रहे थे कि बादल में पानी नहीं है। और फिर, अगर कोई शुभ कार्य हो और उसमें हल्की बूंदाबांदी हो जाए तो वह और भी शुभ मानी जाती है। इसलिए सबके मन में हर्ष की अनुभूति थी।

लेकिन जैसे ही बारिश की बूंदें मंच के सामने बैठे दर्शकों पर पड़ने लगीं, लोग अचानक उठने लगे। देखते ही देखते मूसलाधार बारिश शुरू हो गई। बिजली भी चमकने लगी, कड़क-कड़क कर। जितनी बार बिजली चमकती, उतनी बार बादल भी गरजते। गाँव के लोग अपने-अपने घर की ओर लौटने लगे।

लेकिन बाहर से आए लोग असमंजस में पड़ गए कि अब भीगना ही पड़ेगा। मगर तूफान तो किसी को नहीं छोड़ता। हारकर वे लोग मंच के ऊपर और नीचे कहीं भी जाकर बारिश से बचने की जगह खोजने लगे। जेनरेटर चलानेवाले ने मशीन खराब होने के कारण बिजली बंद कर दी। पूरा मेला अंधेरे में डूब गया। जैसे पानी बरस रहा था, वैसे ही तूफान भी अपना विकराल रूप दिखाकर नाचने

लगा।

सारे मेले में 'बचाओ-बचाओ' की आवाजें गूंजने लगीं। लेकिन न तूफान सुनने को तैयार था और न ही बारिश रुकनेवाली थी। तूफान तो उड़ता हुआ निकल गया, लेकिन मूसलधार बारिश डेढ़ घंटे तक लगातार होती रही। दुकानों के टीन-छप्पर उड़ गए और सारा सामान भीग गया, उड़ भी गया। कौन किसको देखता! सब लोग जान बचाने में लगे हुए थे। तभी एक मंच की ओर से रोने-चिल्लाने की आवाज आई। इतने लोग मंच पर चढ़े हुए थे कि बल्लियाँ टूट गईं और मंच गिर पड़ा! नीचे बैठे लोगों के ऊपर मंच का ढांचा गिरा। किसको क्या हुआ, वह तो अंधेरे में दिखाई नहीं दे रहा था, लेकिन कराहने और रोने की आवाजें साफ सुनाई दे रही थीं। वहीं ड्यूटी पर एक सिपाही था, बेचारा क्या करता, किसे दोष देता? पूजा समिति के सदस्य और वह सिपाही मिलकर बांस और बल्लियों की गड्डी जमाने लगे। देवन और जोगिन्दर रात में ही आ पहुँचे।

खाने-पीने के बाद सजना अपने पिता से बोला- "बाबू, पाँच दिन का मेला है। अगर एक दिन में सब कुछ देख लेंगे, तो फिर अगले दिनों का उत्साह कहाँ रहेगा? सोलहों आने घर और आँगन छोड़कर जाना भी ठीक नहीं। क्योंकि जितने लोग मेला देखने आते हैं, वे सब मेला ही देखने नहीं आते। कोई लड़का-लड़की की हरकत करेगा, तो कोई चोरी-चकारी करेगा। कौन क्या करेगा, यह कोई नहीं जानता। इसलिए हम दोनों पति-पत्नी अभी जा रहे हैं, आधी रात में आकर तुम्हें जगा देंगे, तब तुम जाना।"

बेटे की बात दुनियालाल को जम गई। उसने मन ही मन हामी भर दी। बेटे और बहू की बातें सुनकर तेतरी बोली- "हम रात में जाकर मेला नहीं देखेंगे। संझा-सांझ ही जाएँगे। माँ काली को संझा ही भेंट चढ़ा देंगे और पैर भी छू लेंगे।"

औरत की बात सुनकर सजना कुछ नहीं बोला। वह मेला देखने निकल गया। कुछ समय बाद उसकी पत्नी सितिया भी स्त्रियों के समूह के साथ चली गई।

बारिश और तूफान उठते ही सजना भागा, लेकिन फिर भी घर पहुँचते-पहुँचते अच्छी तरह भीग गया। आँगन में जहाँ से पानी बहता रहता था, वहीं

कीचड़ में पैर फिसलने से गिर पड़ा। सारा शरीर कीचड़ से सन गया और घुटनों पर चोट भी आई। लेकिन हिम्मत करके वह उठ खड़ा हुआ, कीचड़ से लथपथ देह धोकर आँगन में आ गया।

अब तक न दुनियालाल सोया था और न तेतरी। क्योंकि हवा को देखकर तेतरी ने चूल्हे और अनाज रखने वाले कमरे के जलते उपले बुझाकर ही बिछावन पर लेटने आई थी। हवा की दिशा को देखते हुए दुनियालाल पत्नी से बोला-

"हवा तो ऐसी चल रही है कि लगता है घर भी खड़ा न रह पाएगा। ऊपर से एक भी खंभा लकड़ी का नहीं है, सब बाँस के हैं। बहुत बड़ी भूल हुई कि बस चार खंभे ही बदले। बाकी सबके नीचे का हिस्सा तो सड़ चुका है।"

उसी बीच पीछे की दिशा में खड़े तीनों पुराने खंभे चरमरा कर टूट गए, बस नया खंभा ही नहीं टूटा। उत्तर और पूरब दिशा का कोना भी झुक गया, लेकिन पूरी तरह गिरा नहीं। सर्दी से कांपता हुआ सजना ओसारे पर आकर माँ से बोला- "माँ, भीग गया हूँ। बहुत ठंड भी लग रही है। ज़रा लुंगी और चादर निकाल दो?"

घर के भीतर से माँ ने कहा- "भीगी हुई धोती के किनारे से ही पानी निचोड़कर पूरा शरीर पोंछ ले, लुंगी और चादर देती हूँ।"

सजना की उंगलियाँ ठंड से अकड़ चुकी थीं। फिर भी जैसे-तैसे वह धोती का पानी निचोड़कर शरीर पोंछ ही लिया। तेतरी (उसकी माँ) दीया जलाने लगी, लेकिन सलाई (माचिस) गीली हो जाने के कारण जल ही नहीं पाई। अंधेरे में टटोलते हुए किसी तरह लुंगी और चादर निकालकर देते हुए बोली-

"ढूंढ़ ही तो रही थी, वही सलाई अब जल रही है। सिर्फ तुम ही लौटे हो, बहू नहीं आई?"

"नहीं, कहीं दिखी नहीं। शायद पानी के कारण कहीं अटक गई होगी।"

दोनों माँ-बेटे बातें कर ही रहे थे कि उसी बीच रूपलाल का घर ज़ोर की आवाज़ के साथ गिर पड़ा। रूपलाल दुनियालाल का छोटा भाई था। वह घर के अंदर ही था। घर के दोनों तरफ की दीवारें मिट्टी समेटकर गिर गईं, लेकिन बीच

की छत अब भी खड़ी रही। अगल-बगल की टाट की दीवारें टूटकर दब गईं, और वही हिस्से रूपलाल को घेरे रहे। उनके बीच में दुबका रूपलाल जैसे जीवन और मृत्यु के बीच फँस गया था। वह जोर-जोर से मदद के लिए चिल्लाने लगा, लेकिन झमाझम बारिश के कारण कोई सुन ही नहीं पा रहा था। एक तो मूसलधार वर्षा, ऊपर से चारों ओर से घिरा हुआ कमरा, ऐसे में उसकी आवाज़ सुनना किसके लिए संभव था!

कुछ समय बाद मुनेसरी, जो पास के दूसरे घर में थी, ने आवाज़ सुनी। आवाज़ सुनते ही मुनेसरी दरवाज़ा खोलकर ओसारे पर आई, तो बिजली की रौशनी में देखा कि रूपलाल का घर गिरा हुआ है। वह दृश्य देखते ही उसने अपने बेटे को जगा दिया। दोनों जोर-जोर से चिल्लाने लगे।

मुनेसरी की आवाज़ सुनते ही दुनियालाल ने सजनासे कहा- “अरे सजना, रूपलाल का घर गिर गया है। भागकर जा, देख तो, कोई दब तो नहीं गया है?”

सर्दी से अकड़ा हुआ सजना को बारिश में निकलना बहुत कठिन लग रहा था। लेकिन करता भी क्या! मन में द्वंद्व उत्पन्न हो गया, एक ओर चाचा (पित्ती) के प्रति मोह, और दूसरी ओर चाची (पितियाइन) के व्यवहार से उपजा हुआ क्षोभ। लेकिन ऐसे समय में तो जीवन का प्रश्न होता है। दोस्ती-दुश्मनी तो ज़िंदा रहने पर ही होती है।

मन मसोसकर सजना लुंगी की एक गांठ बाँधकर बाहर निकल पड़ा। हवा थोड़ी धीमी ज़रूर हो गई थी, लेकिन बारिश लगातार हो रही थी। पीछे-पीछे दुनियालाल और तेतरी भी चल पड़ी।

रूपलाल का दक्षिण दिशा वाला घर गिर पड़ा था। सजना चाची से बोला-

“काकी, एक दीया और हँसिया लेकर आइए। जब तक ठीक से देख न लें, तब तक कुछ कैसे करेंगे?”

हँसिया निकालते हुए चाची बोलीं- “बेटा, टॉर्च तो पित्ती के पास ही है।”

हँसिया लेते हुए सजना ज़ोर से बोला- “काका जी, ज़रा टॉर्च की रोशनी जलाइए!”

घर के भीतर से ही रूपलाल की आवाज़ आई- “टॉर्च तो सिर पर ही लगा रखा था। अब वह छत के नीचे गिर गया है।”

“कोई चोट-वोट तो नहीं लगी?”

“नहीं बेटा।”

“ठीक है, तुम चिंता मत करो। अब हवा भी कम हो गई है और बारिश भी कुछ हल्की पड़ रही है।”

सजनाको समझाते हुए दुनियालाल बोला- “बेटा, ज़रा धैर्य रखो, जल्दबाज़ी मत करो।”

फिर हाथ के इशारे से बहू से कहा- “बहू, ज़रा दीया जला दो।”

मुनेसरी ने दीया जलाया। रोशनी होते ही दुनियालाल और सजना दोनों मिलकर छप्पर के ताड़पत्र (टाट) हटाने और सहारा देने के लिए कमर कसने लगे। जो खंभा (खुट्टा) टूटकर एक ओर झुक गया था, उसके ताड़पत्र को दबाते हुए सजना ने कहा- “काका, इन दोनों डंडों (सोंगर) को दोनों खंभों से टिका दीजिए, ताकि खंभे इधर-उधर न हिलें।”

अचानक दोनों डंडे जब दोनों खंभों में जोड़ दिए गए, तब सभी के मन में थोड़ी राहत आई। दुनियालाल ने सजनासे कहा- “अभी सारे ताड़पत्र हटाने की जरूरत नहीं है। एक सुरंग जैसा रास्ता बना, पहले आदमी को बाहर निकाल लो, फिर आगे जो होगा देखा जाएगा।”

सजना ने हँसिया से तीन-चार जगह ताड़पत्र की बंधन काटकर एक सुरंग जैसा रास्ता बना दिया। जैसे ही यह सुरंग बनी, रूपलाल बोल पड़ा,

“बेटा, अब निकलने का रास्ता बन गया है। तुम दोनों खंभों को अपने दोनों हाथों से थामे रहो।”

जैसे ही वह बाहर निकला, रूपलाल ने दुनियालाल के पैर पकड़ लिए और रोते हुए बोला- “भैया, अपने लोग इस दुनिया में सबसे बड़े होते हैं। अगर आज तुम दोनों न होते तो मैं तो घर में ही मर गया होता।”

भरोसा दिलाते हुए दुनियालाल ने कहा- “ऐसा टूटा-गिरा हुआ मन क्यों

रखे हो? अपने-पराए को भी तो आदमी खुद बनाता है। तुम तो मेरे छोटे भाई हो ही। समाज बड़े दिलवालों से बनता है। गरीब आदमी क्या मज़े से जीता है? जब तक किस्मत में रोटी-पानी लिखा है, तब तक तो कोई काट-पीट कर भी जी जाता है। मन को शांत रखो। जो हो गया, सो हो गया। अब क्यों कांप रहे हो?"

मगर दुनियालाल की बात का असर रूपलाल पर नहीं पड़ा। अंदर से उसका दिल काँपता ही रहा। बार-बार मन में आता कि कहीं फिर न घर के नीचे दब जाऊँ। आँगन भी डरावना लगने लगा, जैसे कुछ झपटने को तैयार हो।

धीरे-धीरे कांपते हुए रूपलाल बोला- "भैया, लगता है कि अगर सो गए तो फिर कोई दूसरा घर गिर पड़ेगा।"

दुनियालाल के मन में आया कि शायद डर के कारण वह ऐसा सोच रहा है। समझाते हुए बोला- "घर तो जितना गिरना था गिर ही गया। अब क्या फिर दोबारा गिरेगा? जो घर बचा है उसकी दीवारें मजबूत हैं, वह थोड़े ही गिरेगा। फिर भी बारिश और आंधी अब रुक ही गए हैं। नहीं तो चलो हमारे यहाँ ही सो जाओ। बहू से पूछ लो, घर में ही सोओगे या तुम भी डर रहे हो। अगर डर लग रहा हो तो सजना की माँ के पास सो जाओ।"

दुनियालाल की बात सुनकर रूपलाल बोला- "भैया, सारा शरीर कीचड़-गारे से भर गया है। पहले उसे धोना पड़ेगा।"

वैसे तो सभी को कीचड़ और मिट्टी लगी थी। सब लोग कुएँ पर जाकर पूरे शरीर को धोने लगे। कुएँ से लौटकर मुनेसरी ने घर बंद किया। दोनों माँ-बेटे तेतरी के साथ और रूपलाल, दुनियालाल के साथ चला गया।

पूर्व दिशा की ओर वाले घर में दुनियालाल ने ज़मीन पर ही बिस्तर बिछा रखा था। वहाँ चौकी नहीं थी। बिस्तर पर बैठते ही उसने सिरहाने की ओर से चुनौती (चुनौती, तमाकू के डिब्बा) निकालकर रूपलाल को देते हुए कहा- "पहले जरा तमाकू में चूना लगा लो।"

पतली सी तमाकू की डाँठ को फैलाते हुए रूपलाल बोला- "भैया, आज तो मर ही गया था। जैसे हड़बड़ा कर घर गिरा, अगर चौकन्ना होकर बिस्तर नहीं छोड़ता तो या तो मर ही जाता, या फिर किसी अंग में चोट लगती। लेकिन माँ-

बाप का धर्म ही था कि एक खरोंच तक नहीं लगी। नहीं तो पूरी दुनिया अँधेरी हो जाती।”

रूपलाल के विचारों को ग्रहण करते हुए दुनियालाल बोला- “यह शरीर भी तो जैसे कुम्हार के बनाये हुए कच्चे बर्तन जैसा होता है। जैसे एक कच्चा बर्तन हल्की सी चोट में टूट जाता है, वैसे ही यह शरीर भी है। लेकिन लोग इसे भूल कर कठोरता से जकड़े रहते हैं। अगर सभी यह समझ जाएँ कि ज़िंदगी का कोई ठिकाना नहीं है, तो फिर झूठ क्यों बोलें और अधम कर्म क्यों करें? इसलिए जब तक ज़िंदा हैं, ईमानदारी से कमाएँ, पेट भरें और जहाँ तक बन पड़े, दूसरों का भला करें। उपकार ही तो धर्म है, और मरणोपरांत की ज़िंदगी भी असली ज़िंदगी है।”

मुँह बनाते हुए रूपलाल ने पूछा- “भैया, एक बार फिर से कहो। अच्छी तरह समझ में नहीं आया।”

रूपलाल का सवाल सुनकर दुनियालाल मन ही मन सोचने लगा कि शायद इसमें ज्ञान का उदय हो रहा है। वैसे भी, जब कोई संकट आता है, तब ही लोगों के मन में अच्छे विचार जगते हैं.. और फिर जल्द ही ओझल भी हो जाते हैं।

रूपलाल को समझाते हुए दुनियालाल बोला- “बौआ, अगर आदमी ये समझ जाए कि इस शरीर का कोई भरोसा नहीं, पता नहीं कब है, कब नहीं, तो फिर किसी का बुरा क्यों करेगा? और अगर उसी हिसाब से अपने आचरण को सुधार ले तो किसी से अन्याय ही नहीं होगा।

एक तो वैसे ही आदमी हर समय समस्याओं में टुकड़ा-टुकड़ा बना हुआ रहता है, ऊपर से हमेशा कोई-न-कोई गड़बड़ करता ही रहता है। तो ऐसे में कोई चैन से कैसे रह सकता है?

तू ही कह, जब हम दोनों भाई एक साथ थे, तब क्या तू पर कोई बोझ था? बस मिलजुल कर कमाते थे, है कि नहीं?

तो फिर अलग क्यों हुआ? जब अलग हुआ तो अगर कुछ कहता, तो तेरी पत्नी कहती कि भैया घर तोड़ रहे हैं।

उससे लड़ाई हो जाती। ऐसे में अच्छा यही हुआ कि शर्म-लाज में चुप रह गया। तू भी कभी मेरी बात थोड़े ही सुनता था। जो पत्नी कहती, उसी को मानता।

यह केवल हमारे-तुम्हारे बीच की बात थोड़े ही है, यह तो सभी के साथ हो रहा है।"

पश्चिमी घर में तेतरी सो रही थी। पूरब की ओर से हवा का झोंका आने पर सारा ओसारा और सामने का कमरा भी छप-छप कर रहा था।

फिर भी तेतरी ने चूल्हे की राख झाड़कर पानी को रोकने की कोशिश की।

हालाँकि वह बड़ी थी, लेकिन मुँह सीधा। जबकि मुनेसरी छोटी होकर भी मुँहज़ोर थी।

हर समय अपनी बात दूसरों पर थोपे रहती।

इस कारण जब भी दोनों देयादिन (साँझा परिवार की स्त्रियाँ) में कोई बात होती, तो मुनेसरी ही ऊधम मचाती।

मगर आज तो मानो साँप भी बिल में चला गया।

जैसे सभी गर्मी मर गई हो।

जैसे हत्यारे के खून में गर्मी तब तक बनी रहती है जब तक वह फाँसी पर नहीं चढ़ता।

पर जैसे ही फाँसी पर चढ़ता है, वैसे ही एक नई चेतना एक नये सूरज की तरह भीतर से उगती है,

मुनेसरी को आज ठीक वैसा ही अनुभव हुआ।

तेतरी के बिछावन पर मुनेसरी भी उसी के साथ सो गई, माँ और बेटा भी।

दुनियालाल की बात सुनकर रूपलाल बिल्कुल चुप हो गया।

एक तो दुनियालाल के विचारों ने उसके मन को भीतर से झकझोर दिया, और उस पर से गिरे हुए घर का दुःख भी उसे दबाए हुए था।

थोड़ी देर चुप रहने के बाद सिर हिलाते हुए वह बोला- "हाँ, यह तो

बिल्कुल सच कहा भैया।"

अपनी करनी पर पछताते देख दुनियालाल बोला- "अब तुम ही कहो, जब दोनों भाई साथ थे तो क्या तुम्हारे घर का कोई बोझ था। यह तो सबको मालूम है कि हमारा जन्म गरीब घर में हुआ है। कितनी अच्छी तरह दोनों भाई मिलकर बोआई-बुताई करते थे और आपस में मेलजोल से रहते थे। हमारा अपना कितना खेत है। जोड़-घटाकर सात-सात कट्ठा बाध की और घर-आँगन की जमीन है। जिसके पास बीघा-बीघा जमीन है, उसके यहाँ भी हजारों झगड़े हरदम फूटते ही रहते हैं, जिससे मन भारी-भारी बना रहता है। और जिसके पास कुछ नहीं है, वह तो सहज ही झगड़ों में फँसा रहता है।"

दुनियालाल की बात सुनकर रूपलाल का मन केले के पत्ते की तरह काँपने लगा।

मन में कई सवाल उठने लगे। लाचार स्वर में वह बोला- "क्या अच्छा है, क्या बुरा, समझ ही नहीं आता। लोगों के मुँह से जो सुनते हैं, उसी को सच मानकर काम करते हैं।"

रूपलाल की टूटी हुई हिम्मत देख दुनियालाल का मन सोच-विचार की राह पर आकर अटक गया। मन में होने लगा कि अब क्या कहे, एक ओर भाई के प्रति स्नेह उसे दबाए जा रहा था, और दूसरी ओर स्त्रियों के झगड़े से मन ऊब चुका था। कुछ बोले बिना ही, दया से भरी दुनियालाल की आँखें रूपलाल को पढ़ने लगीं..।

पश्चिमी घर में दोनों देयादिन (स्त्रियाँ), एक बाईं ओर मुँह करके और दूसरी दाहिनी ओर मुँह करके पड़ी थीं। बीच में मुनेसरी का बेटा चीते की तरह पड़ा हुआ था। दोनों के मन पर पानी-आँधी की घटना का बोझ था, जिससे नींद गायब थी। उसी बीच अनायास मुनेसरी को मायके की एक घटना याद आ गई। घटना मन में आते ही वह बोली- "तीसरा साल हमारे मायके में एक गोरे (दलित) का घर भी इसी तरह आँधी में गिर पड़ा था। उसकी पत्नी घर में ही थी। बेचारी को बहुत गहरी चोट लगी थी, एक तो हाथ टूट गया और सिर भी फूट गया। लेकिन सिर था कि बड़ा मजबूत, कि वह मर नहीं पाई। सिर की चोट तो भर गई,

पर हाथ कभी जुड़ा ही नहीं। उसी तरह लाचार होकर अब तक खटती रहती है। बेचारी को बड़ी तकलीफ होती है। खुद की ज़मीन-जायदाद कुछ नहीं, दूसरों के खेतों में बोआई करती थी। मगर शरीर के लाचार हो जाने पर सबने साथ छोड़ दिया। अब हारकर वह भीख माँग रही है।”

मुनेसरी की कथा सुनकर तेतरी के मन में दया उमड़ पड़ी। दोनों स्त्रियों का मन और अधिक डर से भर गया। जिस तरह कठियारी (श्मशान) से लौटते समय लोग ‘राम-राम सत है, सबका यही गति है’ कहते हुए घर में प्रवेश करते हैं, उसी तरह तेतरी को भी अपने नैहर (मायके) की एक पुरानी घटना याद आ गई। वह बोली- “एक बार हमारे नैहर में बहुत बड़ी बाढ़ आई थी। ऐसी बाढ़ हमने कभी नहीं देखी थी। हम लोग जलखै (दोपहर का भोजन) कर ही रहे थे कि एक गोरे (दलित) ने आकर बताया कि बाढ़ आ रही है। मैं रोटी पका रही थी, और माँ घास काटने गई हुई थीं। रोटी तो अभी पकी भी नहीं थी कि घर के पास तक पानी आ गया। मैं चूल्हे के पास से उठी और बाँध पर जाकर देखा तो बाढ़ चाँदी की तरह चमकती लहरों के साथ पीटती हुई आ रही थी। धड़ाधड़ भीतघर (कच्चे मकान) गिरने लगे। लूटना नामक एक आदमी बाँध के पास ही था। वह दौड़कर घर आया। घर में चावल के कोठी (अनाज रखने की जगह) में उसने रुपया बाँध कर रखा था। जैसे ही वह कोठी से रुपये निकालने लगा, उसी पर कोठी गिर पड़ी। पानी से भीगी मिट्टी नरम हो गई थी। लूटना कोठी के नीचे दब गया। बचने के लिए चिल्लाने लगा। जब तक लोग मदद के लिए आते, तब तक पूरा घर ही गिर गया। बेचारा वहीं दबकर तड़प-तड़प कर मर गया।”

तेतरी की यह बात सुनकर मुनेसरी और अधिक डर गई। दोनों देयादिनियों (परिवार की स्त्रियाँ) का शरीर थर-थर काँपने लगा। नींद तो जैसे कोसों दूर चली गई थी। डर के कारण दोनों अपने-अपने बिछौने पर एक किनारे से दूसरे किनारे तक करवटें बदलने लगीं। कोई भी कुछ नहीं बोल रही थी। थोड़ी देर बाद मुनेसरी धीरे से बोली- “दीदी, हमें बहुत डर लग रहा है।”

मुनेसरी की बात सुनकर तेतरी ने भी सहमति जताई। वह ऊँचे स्वर में बोली- “हाँ, बहिन! मुझे भी डर लग रहा है। चलो, पूरब वाले घर में चलें। अगर

मरना ही है, तो सब साथ मिलकर मरेंगे।”

कहते हुए वह उठकर बैठ गई। मुनेसरी भी अपने बेटे को उठाने लगी। बच्चा जागा हुआ ही था, फटाफट उठकर बैठ गया। तेतरी ने अपनी बिछावन समेटकर गोद में ले ली। मुनेसरी बेटे को कंधे से लगाए, दोनों बहुएँ पूरब की ओर ओसारे की तरफ चल पड़ीं।

ओसारे पर पहुँचते ही तेतरी ने जोर से आवाज दी- “ज़रा दरवाज़ा खोलिए।”

अंदर से दुनियालाल ने पूछा- “क्यों? क्या हुआ?"

तेतरी बोली- “उस घर में डर लग रहा है। हम सब यहीं पर सोएंगे।”

दुनियालाल थोड़ी दुविधा में पड़ते हुए बोला- “इस घर में तो हम दो भाई रहते हैं, फिर तुम दोनों और कैसे सोओगी?"

तेतरी ने तुरंत उत्तर दिया- “बुरे समय में ये सब नहीं देखा जाता। पहले दरवाज़ा खोलिए।”

दुनियालाल चुपचाप आकर दरवाज़ा खोल देता है। रूपलाल अपना बिछावन अंदर खिसका देता है। मुनेसरी दरवाज़े के पास डिबिया (ढिवरी) रखकर बिछावन बिछा देती है।

तभी, जैसे धुएँ में सनी कोई परछाई हो, सजना की पत्नी भी आँगन में चली आती है। एक बिछावन पर दोनों भाई, दुनियालाल और रूपलाल, लेट जाते हैं। दूसरे बिछावन पर तेतरी अपने बच्चे के साथ और मुनेसरी के साथ सोने की तैयारी करती है। दुनियालाल तो सिर तकिए पर रखते ही तुरंत सो गया, लेकिन बाकी सब जागे ही रहे।

बच्चा भी आँखें मूँदकर सो गया, पर दोनों बहुओं के मन से डर का साया हटता ही नहीं था। वह वैसा डर था, जैसे फिर कभी अचानक घर की छत भरभराकर गिर जाएगी और उनके शरीर पर जीवन का सारा बोझ चिपक जाएगा।

एक बार बहुत बड़ा भूकंप आया था। भूकंप तो कुल मिलाकर ढाई-तीन

मिनट ही रहा, लेकिन इस दौरान घर-द्वार, पेड़-पौधे तक गिर पड़े, और न जाने कितने लोग दबकर मर गए। तीन दिनों तक धरती बार-बार कांपती रही। ऐसा लगता था मानो बड़ा झटका तो चला गया हो, पर कहीं छोटे-छोटे झटके फिर से लौटकर न आ जाएँ। और कौन जाने, कभी-कभी छोटे झटकों के साथ बड़ा झटका भी आ सकता है। इसीलिए दोनों औरतों के मन में डर समाया हुआ था। वैसे तो तेतरी का मन सोने को हो रहा था, लेकिन सोचती कि जब पति जागा बैठा है, तो वह अकेली कैसे सो सकती है। ऊपर से डिबिया भी जल रही थी, तो उसे समझाना भी कठिन लग रहा था। आपदा के समय यही रोशनी तो सहारा होती है।

दुनियालाल को तमाखू (तमाकुल) देते हुए रूपलाल बोला- "भैया, आज समझ में आया कि अपना सगा भाई कैसा होता है।"

ओछावन (बिस्तर) से उठकर दुनियालाल आँगन में थूक फेंकते हुए मुस्कुराया और बोला- "तो फिर अलग क्यों हुआ था? तू ही बता कि क्या हम दोनों सगे भाई नहीं हैं? जब सगे भाइयों में ही मेल-मिलाप नहीं होगा, तो फिर दूसरों से क्या अपेक्षा! जब मनुष्य में इतनी बुद्धि है, तो यह कैसी बुद्धिमानी है कि भाई-भाई में भी दुश्मनी पनप जाए? अगर सभी मनुष्य ऐसे ही हो जाएँ, तो ऐसे मनुष्यों से भला कौन-सा उपकार हो सकता है? इससे तो गाय-बैल ही अच्छे, जो दूध भी देते हैं और हल भी चलाते हैं।"

दुनियालाल की बात सुनकर रूपलाल भी उठकर आँगन में थूक फेंकते हुए लौट आया और बोला- "भैया, बिल्कुल धर्म की बात कह रहे हो। जिस दिन दुल्हन को विदा कराके घर लाए थे, उसी दिन की बात याद आ रही है। मेरी सास और टोले की औरतें पास आकर बैठ गई थीं। मुझे लग रहा था जैसे वृंदावन में कृष्ण गोपियों के बीच बैठकर बातें करते थे, वैसे ही मैं हूँ। एक सुर में सारी स्त्रियाँ कहने लगीं, 'तुम्हारा भाई बड़ा चालाक है। चाहे जितना कमाओ, भाभी ही सब समेट लेगी। तुम दोनों मिलकर कमाओगे और वह आराम करेगी। जब हाथ-पाँव में दम आ जाएगा, तब तुम दोनों को अलग कर देगी। अभी तुम दोनों जवान हो, कमा-खा रहे हो। अभी कुछ बना नहीं लिए तो जब बेटा-बेटी होंगे, खर्च बढ़ेगा,

तब क्या करोगे? इसीलिए अच्छा होगा कि अभी से अलग हो जाओ, वरना बाद में पछताओगे।'"

रूपलाल की बात सुनकर दुनियालाल ज़ोर से हँस पड़ा। हँसते हुए वह बिछावन से उठकर मुँह की तमाखू आँगन में फेंकता है और पास आकर समझाने के लहजे में बोलता है- "जिस किसी ने तुझे कुछ कह दिया, और तूने भी मान लिया, तो तेरी अपनी बुद्धि कहाँ चली गई थी? तूने नहीं देखा कि हम दोनों भाई साथ मिलकर खेत में हल चलाने जाते थे, और भाभी दिन भर आँगन-घर का काम सँभालती थी, लकड़ी-पत्ते इकट्ठा करती थी। फिर जानवरों का चारा-पानी, घर-आँगन की साफ़-सफ़ाई, रसोई, बर्तन मांजने तक सब कुछ भाभी ही करती थीं, ये सब तुझे अपनी आँखों से नहीं दिखता था क्या? अब तू ही बता कि सच्चाई क्या थी, और उन औरतों की बातों से तूने क्या समझ लिया?"

अफसोस से सिर हिलाते हुए रूपलाल धीमे स्वर में बोला-

"हाँ भैया, यह तो सच ही कह रहे हो।"

"जो तुमने अपनी आँखों से देखा, उसे झूठ मान लिया, और जो झूठ दूसरों से सुना, उसे ही सच समझ बैठे। इसी को कहते हैं, 'औरतों की फुसलाहट में फँस जाना।' तेरे जैसे और भी कई लोग औरतों की बातों में आकर कुल और खानदान की इज़्ज़त मिट्टी में मिला देते हैं। जब कोई लड़की ससुराल जाती है, तो मायके में माँ-बाप से लिपटकर रोती है। सोचता है तू, वह क्या कहती है उस समय? वह कहती है, 'जैसे मैं माँ-बाप की गोदी छोड़कर रो रही हूँ, वैसे ही ससुराल जाकर अपने पति को भी रुलाऊँगी।' अरे! इतना भी नहीं समझा कि दुनिया में सब कुछ मिल सकता है, लेकिन सगा भाई दोबारा नहीं मिलता। भाई के लिए लक्ष्मण ने स्त्री, परिवार और समाज तक छोड़ दिया था, लेकिन अंतिम समय तक राम के साथ खड़ा रहा।

आज तू काम लेकर मेरे पास आया। अगर मेरे मन में ज़रा-सा भी पाप होता, तो तुझे घर में मरने के लिए ही नहीं छोड़ता। कम से कम धक्का मुक्की करके तुझे जमीन पर पटक ही देता। अगर तू न भी मरता, तो हाथ-पैर तो ज़रूर टूट जाते।"

गहरी साँस छोड़ते हुए, अपनी भर आई आँखें पोंछते हुए रूपलाल बोला-

"भैया, आज समझ में आ रहा है कि सबने मुझे धोखा दे दिया।"

"कान खोलकर सुन ले। जैसे मनुष्य इस धरती पर सबसे बड़ा जीव है, जो बड़े-बड़े चमत्कारिक काम करता है, वैसे ही सबसे बड़ा धूर्त भी वही है। तू खुद देखेगा कि जिसे थोड़ी भी बुद्धि और अक़्ल होती है, वह हमेशा मूर्खों की कमाई को ठग-ठगकर मज़े से खाता है, कभी खुद मेहनत नहीं करता। उसकी स्त्रियाँ और बच्चे तक भी कुत्ते-बिल्लियों की तरह दूसरों की इज़्ज़त और अधिकार पर डाका डालते हैं।"

"भैया, आज ऐसा लग रहा है कि हमारे पिता मरे नहीं, बल्कि जीवित ही हैं।"

पुत्र के स्वर में आत्मस्वीकृति सुनकर दुनियालाल का हृदय पिघल उठा। वह भावुक होकर बोला- "बेटा, जो समय बीत गया, वह अब फिर लौटकर नहीं आएगा। लेकिन जब तक जीवित हैं, तब तक का समय तो हमारे हाथ में है। तू मुझे सम्मान दे या न दे, मगर मैं अपनी सीमाओं को पहचानता हूँ। हम अपनी कमाई खाते हैं, अपने श्रम से जीवन जीते हैं, किसी और का आसरा नहीं लेते। और जो काम किसी और को दुख दे, वह हम नहीं करेंगे। अगर किसी के साथ अच्छा नहीं कर सकते, तो बुरा क्यों करेंगे? जो कर्तव्य तेरे प्रति है, वही तो निभाएँगे।"

"भैया, अब तो नींद भी पलकों तक आ गई है। रात भी बहुत बीत गई। आप भी सो जाइए, और हम भी सोते हैं।"

लेकिन मुनेसरी का मन करवटें बदलते हुए भी शांत नहीं हो पा रहा था। एक ओर उसे अपनी बीती ज़िंदगी की राह टूटती हुई दिख रही थी, तो दूसरी ओर कोई नई राह की स्पष्टता नहीं थी, जिससे मन उलझन में था। परंतु दुनियालाल के विचार सुनकर वह जैसे झिलमिलाती हुई एक नई राह देख पाने लगी, जिससे उसके भीतर बदलाव की आहट सी जाग उठी। अगर मायके की स्त्रियों ने उसे अच्छी सीख दी होती, तो शायद हालात कुछ और होते, मगर वैसा न हुआ।

मोम की तरह मुनेसरी का मन पिघलने लगा। पर वह कुछ बोलने का

साहस नहीं कर पा रही थी। जैसे मालती फूल की सुगंध से विषधर साँप भी लिपटकर चेतना शून्य हो जाता है, वैसे ही मुनेसरी का अंतर्मन भी शांत और सुन्न हो चला। मन-ही-मन अपनी भूल को स्वीकारते हुए वह तेतरी से बोली-

"दीदी, लगता है कि अब ये भी सुलझ चुके हैं।"

मुनेसरी की बात सुनकर तेतरी को जैसे क्रोध सा आ गया। वह झुँझलाकर बोली-

"तुझे ज़रा भी शर्म नहीं है कि जिस घर में पुरुष मौजूद हैं, वहाँ तू जाकर सोएगी। एक तो भगवान ने विपत्ति दी कि हम सबको एक ही घर में सुलाना पड़ा। अच्छा होगा कि तू डिबिया बुझा दे, ताकि थोड़ी परदेदारी बनी रहे और तू भी चुपचाप सो जा।"

'डिबिया बुझा देना' सुनकर मुनेसरी का मन एकदम बेचैन हो उठा। वह सोचने लगी कि रौशनी में तो सब देख ही लेती हूँ, लेकिन अँधेरे में क्या होगा, क्या नहीं, कौन जाने? फिर भी वह किसी तरह उठकर डिबिया बुझा ही देती है, मन में अपराध बोध और पश्चाताप का भार लिए। ❑

चार: ख

कल ही, दिवाली से एक दिन पहले, अनुप को ओठर (नह-छुआनी या बाल-भोजन) हो जाने के बाद काली पूजा के निमंत्रण के लिए भेजा गया। बहन का ससुराल, अपना ससुराल और मायका, तीनों एक ही दिशा में थे। थोड़ी देर घूमने की सोचते हुए वह ठान लिया कि पहले बहन के यहाँ पहुँचकर निमंत्रण भी दे दूँ और आने के लिए कह भी दूँ। लेकिन वहाँ ज़्यादा रुकना नहीं है। बस हल्की बातचीत के बाद ससुराल निकल जाऊँगा और रात में वहीं रुकूँगा। क्योंकि अब भी घर की बूढ़ी (माँ) को यही चिंता रहती है कि चाहे जितना जल्दी काम निपटा लो, समय से आने नहीं देती।

सुबह होते ही मायके से फिर वापस चला आऊँगा। पीछे रोकनेवाला कोई नहीं है, वैसे भी बहन के मन में जरूर आता होगा कि जब तक माँ-बाप जीवित थे तब तक ही यह घर उसका था, अब तो भैया-भाभी की दुनिया है, हम कहाँ के? मगर वह यह थोड़े ही समझती है कि हमारे पास दो भैंसें हैं और उन्हीं की देखरेख में दिन भर उलझे रहते हैं। वैसे भी साल में एक-दो बार बुलाते ही हैं और जाते भी रहते हैं। फिर भी यह सोचकर कि कहीं उसे बुरा न लगे, सबसे पहले उसके ही यहाँ जाऊँगा।

दूसरे दिन जब करीब दस-ग्यारह बजे अनुप घूमकर वापस आया तो देखा कि भैंसें भूखी-प्यासी रंभा रही हैं। रास्ते की थकान ऊपर से यह हाल देखकर उसका मन चिढ़ गया, लेकिन जैसे ही लक्ष्मी पूजन की याद आई, मन में खुशी भर आई। वह दौड़ते हुए भैंसों को बाहर निकाल ले गया और गाँव के खुला मैदान की ओर चल पड़ा। लेकिन गाँव में पारा न मिलने पर पास के गाँव पहुँच गया।

वहाँ पहुँचते ही पता चला कि एक बड़ी भैंस दक्षिण की ओर गया है। फिर उस गाँव से आगे दूसरे गाँव के लिए निकल पड़ा। वहाँ भी वही खबर मिली कि वह दक्षिण दिशा में गई है। इस तरह भटकते-भटकते जब चार बज गए, तब वह

एक बगीचे में अपनी भैंस को पाड़ा (नर भैंस) के पास देख पाया। देखने में तो पाड़ा भारी-भरकम ही था, ऊपर से लंबे-लंबे सींग।

मरखाह (चिड़चिड़े स्वभाव) होने की वजह से पाड़ा को एक पेड़ से बाँध दिया गया था, और उसका मालिक दूर हटकर बैठा था। जैसे ही अनुप की भैंस को देखा, पाड़ा दौड़ पड़ा। पाड़ा को आते देख अनुप जल्दी से अपनी भैंस को एक पेड़ से बाँध कर खुद दूसरे पेड़ पर चढ़ गया।

इसी बीच पहले से मौजूद पाड़ा का मालिक अपनी भैंस की रस्सी खोलकर दूर हट गया। पाड़ा पास आकर अनुप की भैंस को जकड़ लिया। फिर तो लगातार तीन-चार बार उसने मूठ (सहवास) कर लिया।

मूठ सफल होते देख अनुप का मन खुशी से उछल पड़ा। मगर पाड़ा डर के कारण अब भी पेड़ से नहीं उतर रहा था। पाड़ा भैंस के पास बैठ गया, लेकिन अनुप की भैंस खड़ी ही रही। अनुप सोच रहा था कि यदि भैंस भी बैठ जाती, तो मूठ गहरा होता और गर्भधारण की संभावना पक्की हो जाती।

संध्या हो चुकी थी। अमावस्या का दिन होने के कारण थोड़ी देर में ही घना अंधेरा छा गया। अनुप भी पेड़ से उतरकर हटकर बैठ गया। अंधेरे को देख उसके मन में डर समा गया कि अकेला हूँ, अब गाँव कैसे जाऊँ? ऊपर से वह पाड़ा ऐसा शैतान है कि छोड़ता ही नहीं। रात के दस बज गए। हवा चलने लगी और हल्की बूंदाबांदी भी शुरू हो गई। बारिश पड़ते ही पाड़ा भैंस को छोड़ गाँव की ओर चल पड़ा। अब तो हवा और बारिश दोनों तेज हो गए।

अनुप भी अपनी भैंस के साथ गाँव की ओर रवाना हुआ। लेकिन कुछ ही दूर बढ़ा था कि बारिश और आँधी और तेज हो गई। आधे रास्ते पहुँचते-पहुँचते मूसलाधार बारिश और तूफान ने भयंकर रूप ले लिया। अनुप भारी संकट में फँस गया। वह सोचने लगा- आज शायद नहीं बचूँगा। इस सुनसान खेत में भैंस भी मरेगी और मैं भी। न तो कोई राह सूझ रही थी, न ही कोई आदमी दिखाई दे रहा था। और न ही साथ में कोई दीपक या रोशनी थी। ऐसे में इस खुले पाट (मैदान) को कैसे पार करूँ? ऊपर से गीले कपड़े, बिल्कुल भीग चुका शरीर, और ठंड से काँपता तन।

अनुप को ऐसा लगा जैसे जीवन की आस ही टूट गई हो। मन ने मान लिया कि अब बचना मुश्किल है। जब मैं ही नहीं बचूँगा, तो भैंस किस काम की? वह बैठकर रोने लगा। लेकिन रोने की आवाज़ कौन सुनता? बिजली चमकती थी तो ऐसा लगता जैसे अब वह सीधे शरीर पर गिर पड़ेगी।

अचानक हवा रुक गई। हवा रुकते ही मन में थोड़ी आशा जगी, पर बारिश अभी भी तेज हो रही थी। जैसे-तैसे जब अनुप गाँव पहुँचा, तब जाकर बारिश भी थमी। घर पहुँचते ही काँपते हुए स्वर में उसने अपनी पत्नी से कहा- "हाथ-पाँव सुन्न पड़ गए हैं, ज़रा चूल्हा जलाओ।"

नसीवलाल ने भैंस को बाँधा। भुलिया (पत्नी) अनुप से बोली- "जब तक आप धोती बदलें, तब तक मैं चूल्हा सुलगाती हूँ।"

पत्नी की बात तो अनुप ने सुनी, पर ठंड से अकड़कर ज़मीन पर ही गिर पड़ा। ठंड से उसका शरीर पत्थर-सा हो गया। बोलने की ताकत भी जाती रही।

घबराकर भुलिया दौड़ पड़ी और टूटी हुई लोहे की हांड़ी में गोबर और लकड़ियाँ डालकर, उस पर मिट्टी का तेल डालकर माचिस से चूल्हा जलाया। चूल्हा जल उठा।

फिर उसने सुनरी से कहा- "बुच्ची, जल्दी से करछी में चार ढेकरी (मुट्ठी) सरसों पीसकर उसमें लहसुन और करुआ तेल डाल ला। इसी चूल्हे पर गरम कर के पूरे शरीर की मालिश कर देंगे, तभी कुछ राहत मिलेगी।"

माँ की बात सुनते ही सुनरी ने चौखट पर टँगी लहसुन की माला में से एक गांठ निकाली, दाने अलग किए और सिलौटे पर पीसने लगी। फिर शीशी से तेल निकालकर करछी में डाला और चूल्हे पर गर्म करने रख दिया।

तीनों जन–पत्नी, बेटा और बेटी–के मन में आशंका थी कि शायद अनुप ठंड से मर ही गया है। मगर उसकी साँस चलती देखकर थोड़ी उम्मीद बनी हुई थी। लहसुन तेल से तीनों ने मिलकर उसके दोनों तलवे और हथेलियाँ अपने हाथों से जोर-जोर से रगड़नी शुरू की।

पाँच-सात मिनट रगड़ने के बाद अनुप ने आँखें खोलकर कहा- "ठंड थोड़ी

कम हुई है।"

अनुप की आवाज सुनते ही तीनों में उत्साह आ गया और और भी तेजी से रगड़ना शुरू कर दिया। हथेली रगड़ना छोड़, नसीवलाल अब पीठ भी रगड़ने लगा।

जैसे ही मन थोड़ा हल्का हुआ, अनुप बोला- "सीने में अब भी ठंड बैठी है। ज़रा चाय बना दो। जब तक अंदर से गर्मी नहीं आएगी, ठंड नहीं जाएगी।"

पति की बात सुनकर भुलिया चाय बनाने की तैयारी करने लगी। घर में चायपत्ती तो थी, लेकिन चीनी बिल्कुल नहीं थी। और इतनी रात को, ऊपर से ऐसी परिस्थिति में दुकान से चीनी लाना भी मुमकिन नहीं था।

पति से भुलिया बोली- "चायपत्ती तो है घर में, लेकिन चीनी नहीं है।"

पत्नी की बात सुनकर अनुप बोला- "अगर चीनी नहीं है तो नमक डाल कर ही बना लो। इस वक्त कहाँ से लाओगी?"

भुलिया चाय बनाने लगी। इसी बीच अनुप ने बेटे से कहा- "बेटा, ज़रा रुको, मैं धोती बदल लेता हूँ।"

कहते हुए वह उठकर धोती बदली और गंजी पहन ली। चाय भी बन चुकी थी। स्टील के गिलास में करीब 250 मिलीलीटर चाय छानकर भुलिया ने अनुप को थमा दी। शरीर ठंड से अकड़ा हुआ था, मुँह भी सुन्न था, इसलिए गर्म चाय का अहसास तक ठीक से नहीं हो रहा था।

अनुप धीरे-धीरे घूँट-घूँट कर चाय पीने लगा। आधा गिलास चाय पीते-पीते शरीर में थोड़ी गर्मी आने लगी। जैसे ही शरीर गर्म हुआ, तेज बुखार चढ़ आया। अब फिर से ठंड लगने लगी। ओछावन पर लेटते हुए अनुप ने बेटे से कहा-

"बेटा, बहुत ठंड लग रही है, ज़रा कंबल निकाल ला।"

कंबल ओढ़कर अनुप लेट गया। लेकिन ठंड कम होने की बजाय और बढ़ती गई। फिर अनुप बोला- "एक कंबल से ठंड नहीं जाएगी, और ओढ़ा दो।"

घर के तीनों कंबल ओढ़ने पर शरीर में थोड़ी गर्मी आने लगी। शरीर गरमाते ही अनुप बोला- "बेटा, देह से भाप निकल रही है।"

'भाप' शब्द सुनते ही भुलिया बोली- "सर्दी-गर्मी हो गई! इतनी रात में डॉक्टर को कैसे बुलाएँगे? और ऊपर से ऐसा संकट का समय है, आएगा भी या नहीं, कौन कह सकता है?"

निराश स्वर में अनुप बोला- "अगर किस्मत में जीवन बाकी होगा तो जी ही जाऊँगा, और यदि पर्ची कट चुकी होगी (मृत्यु निश्चित होगी) तो डॉक्टर भी भला क्या बचा लेगा?"

भुलिया उदास हो बोली- "अगर जान भैंस के पीछे ही गँवानी है, तो उससे बेहतर है कि भैंस को ही बेच दें।"

आशा से भरकर अनुप बोला- "इन्हीं भैंसों के बदौलत तो दो पैसे दिखते हैं और घर-गुज़र चलता है। अगर इन्हें ही बेच देंगे तो फिर जिएँगे कैसे? जीवन में अच्छा-बुरा समय आते-जाते रहता है, तो क्या काम ही छोड़ दें? मौत का क्या ठिकाना? चलते-चलते भी कोई गिरकर मर सकता है। तो फिर भैंस को क्यों छोड़ें?"

इसी वर्ष, पौष महीने में गाँव में एक किसान गोष्ठी हुई थी। उस गोष्ठी में जिला के कृषि पदाधिकारी और प्रखंड स्तरीय अधिकारीगण भी आए थे। वैसे, यह गाँव में पहली बार इस तरह की बैठक थी जिसमें किसानों की समस्याओं को नजदीक से समझा गया था। उस दिन पहली बार गाँव के किसानों को यह अहसास हुआ कि सरकार में उनकी भी भागीदारी है। क्योंकि अभी तक तो गाँववाले सरकार को केवल 'कोटा की चीनी' और 'मिट्टी का तेल' तक ही सीमित मानते थे।

हाँ, कभी-कभार किसी को खाद और गेहूँ का बीज भी मिल जाया करता था, लेकिन उस गोष्ठी में सब कुछ बदल चुका था। उसमें किसानों को चार श्रेणियों में बाँटा गया, लघु, सीमांत, मध्यम और बड़े किसान के रूप में, और सभी के लिए अलग-अलग सरकारी सुविधाओं पर चर्चा हुई। सीमांत किसानों को एक-तिहाई (33 प्रतिशत) सरकारी सहायता देने की घोषणा की गई। इस घोषणा से लोगों में जबरदस्त उत्साह फैला।

खेती के सभी पहलुओं, पशुपालन, मछली पालन, सब्जी और फल-फूल

की खेती, उन्नत किस्म के धान-गेहूँ आदि, पर सहायता देने की बात की गई। 33 प्रतिशत सहायता मिलने की बात से बड़े और मध्यम किसानों के लिए भी छोटे-छोटे व्यवसाय और गाय-भैंस पालन के रास्ते खुल गए।

गोष्ठी के कुछ ही दिनों बाद पंजाब-हरियाणा से ट्रकों द्वारा बारह जर्सी नस्ल की गायें गाँव में आईं। उन्हीं में से एक काली गाय राजेसर ने भी दस हज़ार में खरीदी। चार महीने तक वह गाय रोज़ आठ किलो दूध देती रही। लेकिन फिर, चार महीने बाद, धीरे-धीरे उसका दूध कम हो गया।

जब तक गाय आठ किलो दूध देती रही, तब तक राजेसर और उसकी पत्नी भी दिल खोलकर मेहनत करते रहे। हालाँकि उन्होंने गाय के लिए न कोई हरा चारा बोया था, न ही सुधा, दाना या पोषणयुक्त आहार की कोई व्यवस्था की थी। और न ही आस-पास में कोई ऐसी दुकान थी जहाँ से यह सब मिल सके। फिर भी राजेसर पुराने ढंग से ही मौसमी घास और मक्का की पत्तियाँ थोड़ी-बहुत गाय को खिलाता रहा।

छह महीने पूरे होते-होते गाय दूध देना बंद कर चुकी थी। चूँकि वह बछिया थी, इसलिए गाय की संख्या तो नहीं बढ़ी, परंतु जब तक उसने दूध दिया, लोगों में उसके प्रति आकर्षण जरूर पैदा हो गया। क्योंकि अभी तक गाँव में कोई ऐसी गाय नहीं थी जो एक सेर से अधिक दूध देती हो।

वैसे भी, गाँव की गाएँ धीरे-धीरे नस्ली रूप से कमजोर होती जा रही थीं। इसके कई कारणों में एक कारण यह भी था कि श्राद्ध-कर्म जैसे अवसरों पर जिस तरह बीमार या कमजोर बछड़ों को साँढ़ बना दिया जाता था, उससे गाएँ नस्लहीन होती चली गईं। परिणामस्वरूप, उनकी दूध देने की क्षमता लगातार घटती गई।

राजेसर की जर्सी गाय ने विसकने के बाद से उठना ही बंद कर दिया था। आठ महीने बीतते-बीतते वह पूरी तरह निराश हो गया। जब वह गाँव के लोगों से सलाह करता तो कोई कहता, करुआ तेल (सरसों तेल) पिलाओ, तो कोई सलाह देता, मेनगोभी खिलाओ। लेकिन गाय में कोई सुधार नहीं हुआ।

आख़िरकार थक-हार कर राजेसर ने मधेपुर के पशु चिकित्सालय से

संपर्क किया। डॉक्टर साहब ने सुझाव दिया कि गाय का गर्भाशय साफ कराना पड़ेगा।

दिवाली के दिन राजेसर अपनी गाय को लेकर मधेपुर के पशु अस्पताल पहुँचा। लेकिन वहाँ पता चला कि डॉक्टर साहब एक बीमार भैंस को देखने भगवानपुर गए हुए हैं। गाय को पेड़ से बाँधकर राजेसर अस्पताल के ओसारे (बरामदे) में तौलिए बिछाकर वहीं लेट गया।

सूर्यास्त के बाद डॉक्टर साहब भगवानपुर से लौटे। घर पहुँचते ही उनकी पत्नी ने कहा- "एक आदमी दोपहर से भूखे-प्यासे अपनी गाय के साथ यहाँ बैठा है, पहले उसी को देख लीजिए।"

पत्नी की बात में 'दोपहर से' शब्द सुनते ही डॉक्टर चौंक गए। साइकिल एक ओर रखते हुए बोले- "ऐसी बीमारी के केस में फँस गया था कि चाहकर भी जल्दी नहीं निकल सका। लेकिन जैसे ही भैंस ने उठकर खड़ा होना शुरू किया, खुद को भी संतोष हुआ और भैंसवाले ने भी कहा कि अब भैंस बच जाएगी। इसीलिए देर हो गई। मन भी थक गया है। पहले एक लोटा पानी पिलाओ और फिर चाय बना दो, तब तक मैं कपड़े बदल लेता हूँ।"

चाय पीने के बाद डॉक्टर राजेसर के पास आए। गाय को देखते हुए बोले-

"चूँकि तुम इतनी देर से बैठे हो, इसलिए आधा घंटा और लगेगा।"

उम्मीद से भरे स्वर में राजेसर बोला- "तो कोई बात नहीं डॉक्टर साहब, लेकिन गाँव में लोग देखेंगे और फिर बात भी बनाएँगे, ऊपर से अमावस्या की रात भी है... तो ज़रा जल्दी...।"

ढँढी (पशु की खाट) में गाय को बाँधने के बाद डॉक्टर साहब ने सफाई से इलाज शुरू किया। हाथ धोकर एक इंजेक्शन लगाया और चार खुराक की गोलियाँ देकर बोले- "काम तो हो गया, लेकिन अब गाँव मत जाओ। यहीं रुक जाओ, सुबह रोशनी में चले जाना।"

फीस देते हुए राजेसर ने कहा- "डॉक्टर साहब, भले ही देर हुई, पर इलाज तो हो ही गया। गाँव में मेला-तमाशा भी है, इसलिए अब निकल ही जाते हैं।"

एक तो अंधियारी रात ऊपर से काली-कलूटी गाय, राजेसर मन ही मन सोच रहा था कि कहीं हाथ से रस्सी छूट गई तो गाय खो ही जाएगी। इसलिए उसने गाय की रस्सी अपने गट्टा (कमर) में बाँध ली, गाय को आगे-आगे चलाते और खुद पीछे-पीछे चलता गाँव की ओर रवाना हो गया।

थोड़ी दूर ही चला था कि बूंदाबांदी शुरू हो गई और हवा भी धीरे-धीरे तेज होने लगी। फिर तो तेज़ हवा के साथ मूसलधार बारिश शुरू हो गई। जब तक घर पहुँचा, राजेसर और गाय दोनों ठिठुरते जा रहे थे। रात गहराने लगी। गाय ने बेचैनी में पैर पटकने शुरू कर दिए, बार-बार उठने-बैठने लगी और रंभाने भी लगी।

स्थिति ऐसी हो गई कि दोबारा डॉक्टर के पास जाने की हिम्मत नहीं हुई। न तो उनके गाँव में कोई पशु-चिकित्सक था, और न ही आसपास के किसी गाँव में। हारकर सरसों तेल और मिट्टी का तेल मिलाकर, पूरे शरीर पर एक लेप-सा बनाकर पति-पत्नी दोनों मिलकर गाय को मलने लगे। फिर थोड़ी देर बाद मिर्च पीसकर करुआ तेल में मिलाया और गाय को चटाया। मगर कोई सुधार नहीं हुआ। बल्कि धीरे-धीरे हालत और बिगड़ती चली गई।

भोर होते-होते गाय ने ज़ोर की सांसें खींचीं, थरथराई और फिर मर गई। गाय के मरते ही राजेसर और उसकी पत्नी फूट-फूटकर रोने लगे। उनके रोने की आवाज़ सुनकर पास ही के डोमन दौड़ते हुए आ पहुँचे। आते ही डोमन ने राजेसर से पूछा- "भैया, क्या हुआ?"

राजेसर कुछ नहीं बोला, बस आँसू बहाते चुप बैठा रहा। डोमन पास जाकर देखता है कि गाय चारों टाँगें फैलाए मरी पड़ी है। माथे पर हाथ रखकर डोमन बोला- "भैया, चुप हो जा। जब कमाने वाला बेटा मरता है तब भी लोग दिल पर पत्थर रखकर चुप हो जाते हैं, यह तो बस एक जानवर थी।"

डोमन की बात सुनकर राजेसर बोला- "गाय मरी है, इसका दुख उतना ही नहीं है जितना बैंक के कर्ज का है। एक तो सरकार कहती है कि वह किसानों की मदद करती है, पर लगता है जैसे गले में फाँसी डालती है। जब हम गाय नहीं लेने वाले थे, तब कहा गया कि एक हिस्सा सरकार देगी और बाकी दो हिस्से

बैंक से कर्ज मिलेगा। सब कुछ आसान लगा तो हम भी तैयार हो गए। यह कहाँ सोचा था कि यह फाँसी का फंदा बन जाएगा।

कर्ज माफ़ी के लिए बैंकवाले ने कहा कि मधुबनी (ब्लॉक कार्यालय) से एक कागज़ लाकर दो, तब वह रकम लोन में माफ़ हो जाएगी। जब तक वह कागज़ नहीं दोगे, तब तक 100% ब्याज चलता रहेगा। अब खुद तो समझ में नहीं आया कि क्या करें। कोटा के मंशी से जाकर सब बात बताया, तो वह तैयार होकर साथ चल पड़ा। हम भी उसके पीछे-पीछे गए। वहाँ जाकर ऑफिस में कहा गया, '500 रुपए दो, तभी कागज़ मिलेगा।'

ऐसे ही दौड़-धूप और झंझट में हज़ार रुपए से ऊपर खर्च हो गया। अब तक लोन की किस्त भी नहीं चुका पाए थे। जब बैंक में हिसाब करने गया तो बताया गया कि छह महीने का ब्याज मूलधन में जुड़ गया है और अब उसपर भी ब्याज लगेगा।

इसी बीच गाय भी मर गई! अब बताओ, क्या करें?" ❑

चार: ग

कालीपूजा-दिवाली का शुभ दिन समझकर सुरतिया और उसकी पत्नी फुलेसरी सुबह से ही खपरैल (खपड़ा) की भट्ठा लगाने में जुट गए। बीस हज़ार खपड़ों की भट्ठा की कल्पना से ही मन में खुशी उमड़ रही थी। बीच में मोटे खपड़ों (थोपुआ) की परत और चारों ओर किनारी में नाड़ी (पतले) खपड़ों की पंक्तियाँ सजाई गईं। थोपुआ खपड़ा मोटा होता है, इसलिए उसे किनारे रखने से वह अच्छी तरह नहीं पकता। लेकिन आमदनी की उम्मीद ने दोनों के मन को इस कदर उमंग से भर दिया था कि उन्हें काम की थकावट का एहसास ही नहीं हो रहा था।

दुनिया के सारे दुःख-कष्ट जैसे भूल गए हों, बस मन केवल उस आमदनी की ओर ताकता रहता, जैसे कोई रोता बच्चा जब गुदगुदी करने पर खिलखिलाकर हँसने लगता है, ठीक वैसे ही दोनों–सुरतिया और फुलेसरी–खुश होकर मुस्कुरा रहे थे। भट्ठा लग गया।

एक तो सूखा और साफ मौसम, ऊपर से कार्तिक का महीना। कार्तिक महीने में न चैत-बैसाख की तरह आँधी-पानी का डर होता है और न ही बेमौसम बारिश की आशंका। इसलिए न भट्ठा के ऊपर कोई छाँह (ढकावन) दी गई, न ही किनारों पर टाट बिछाई गई।

पहली शाम को सब काम निपटाने के बाद सुरतिया भट्ठा के पास जाकर बैठ गया और ध्यानपूर्वक एक-एक परत को देखने लगा कि कहीं कुछ छूट तो नहीं गया। इधर फुलेसरी रसोई में गई थी। चूल्हा जलाकर जब वह अदहन (चावल पकाने) के लिए चढ़ाने लगी, तभी मन में खयाल आया कि ज़्यादा तरुआ-भगौना बनाने में बहुत देर लगेगी, उससे अच्छा है खिचड़ी और आलू चोखा बना लें।

वैसे भी त्यौहार के दिन कुछ लोग चटपटा, तला-भुना खाकर जीभ का

चस्का मिटाते हैं। लेकिन क्या त्योहार का मतलब सिर्फ खाना ही होता है? खाने की कोई सीमा थोड़े है। जिसके पास सामर्थ्य है, वह तो रोज़ कुछ न कुछ खास खाता ही है। अगर हम अभी खाने में ही समय बर्बाद कर देंगे तो फिर बाकी ज़रूरी कामों की तैयारी कब होगी?

फिर सोचा कि अकेले निर्णय नहीं लें, पति से पूछ ही लेते हैं। चूल्हे के पास से उठकर फुलेसरी सुरतिया के पास आकर बोली- "वैसे, आज तो लक्ष्मी पूजा का दिन है, सब लोग तरुआ-बगरूआ (तले हुए पकवान) बनाते हैं, क्या विचार है?"

उधर सुरतिया मन ही मन बीस हज़ार खपड़ों की कीमत जोड़ने में मग्न था। बारह हज़ार थोपुआ हैं, जिनकी कीमत बारह हज़ार होगी। अगर कुछ टूट-फूट भी गया या न बिके, तो भी बारह नहीं तो ग्यारह हज़ार सात-आठ सौ रुपए तो मिल ही जाएँगे। और आठ हज़ार नड़िया (पतले खपड़े) हैं, जिनका कुल दाम आठ सौ रुपए बैठता है। उसमें भी कुछ अधपक्के होंगे या टूट जाएँगे, तो कम से कम छह सौ चौंसठ रुपए, यानी कुल छह हज़ार मिलेंगे।

कुल मिलाकर, किसी तरह सत्रह-हज़ार, अठारह-हज़ार की आमदनी हो ही जाएगी..।

सुरतिया बोला- "बुढ़ापा आ गया है और नाक के नीचे आग लगी है। इतना भी नहीं समझती कि भट्ठा लगाई है, उसमें आग देंगे तो पूरी रात जागकर देखभाल करनी पड़ेगी। जागरण में अधपेट खाना ही अच्छा होता है, भरपेट खाकर नींद आ जाती है। जाओ, खिचड़ी और आलू चोखा बना लो।"

पति की बात को अपनी सोच से मेल खाते देख फुलेसरी का मन प्रसन्नता से झूम उठा। मुस्कराते हुए बोली- "त्योहार का दिन है, तब..?"

सुरतिया ने कहा- "जाओ-जाओ। जिसके पास है उसके लिए तो हर दिन होली-दिवाली है, और जिसके पास नहीं है, उसके लिए हर दिन एकादशी (उपवास) ही है।"

खाना खाकर फुलेसरी ने बच्चों को सुला दिया। रात के करीब साढ़े नौ बज रहे थे। सुरतिया भट्ठे पर जाकर मसूरी (सूखी पत्तियों) और डाल (सूखे

तिनकों) को छिटकते हुए कहने लगा- “जैसे मसूरी और डाल लाल-लाल सुलग रहे हैं, वैसे ही भट्ठा भी अब लाल-लाल हो जाए..!”

कहते हुए उसने आग लगा दी। सूखा मौसम था, सो आग तेज़ी से धधक उठी। आग की लपटें देख सुरतिया ने पत्नी से कहा- “इस बार के खपड़ों से पूँजी बढ़ा लेंगे। दो मज़दूर और रख लेंगे। किसी तरह अगर दस भट्ठा तैयार हो गए, तो लाख रुपए की कमाई हो ही जाएगी। पैसा ही पैसा बढ़ेगा। गाँव में तो देख ही रहे हैं, जिनके पास दस बीघा ज़मीन है, वे भी साल भर आराम से खा नहीं पाते। हम तो वैसे भी गरीब-निर्धन हैं। लेकिन अकल-विवेक कुछ ऐसा है कि..।”

फुलेसरी की समझ में पति की बात पूरी तरह नहीं बैठी। छोटे मन में बड़ी बातें कहाँ समाती हैं! लेकिन पति-पत्नी के बीच कोई तर्क-वितर्क थोड़े ही होता है, वह तो जैसे कविता में तुक मिलाने जैसा होता है। विषय कोई भी हो, अगर तुकबंदी जम गई, तो कविता अच्छी ही मानी जाती है।

पति की बात का जवाब देते हुए फुलेसरी बोली- “इस बार अपने घर पर भी खपड़ा लगवा ही देंगे।”

‘अपना घर’ सुनकर सुरतिया के मन में भाव उठने लगे, जैसे घर बनानेवाले को भी कभी अपना घर नसीब नहीं होता, वैसे ही मेरे साथ भी है। जब तक बिराटनगर में नौकरी करता था, तब तक तो पेट चलाने में ही कठिनाई थी। लेकिन अब अगर कमाई बढ़ने लगी, तो घर भी बना ही लेंगे!

बूंदाबांदी के साथ-साथ तेज हवा भी उठने लगी। पूर्व दिशा में बादल देखकर सुरतिया बुदबुदाया- “बादल भी कहाँ दिख रहे हैं, बस एक छोटी-सी टुकड़ी-सी लगती है। लगता नहीं कि बारिश आएगी। मगर ये हवा अगर ऐसे ही चलती रही, तो सब गड़बड़ हो जाएगा। अगर हवा तेज हो गई, तो भट्ठे का एक हिस्सा कच्चा ही रह जाएगा और बाकी हिस्सा झोंक बन जाएगा।”

लेकिन हवा तेज होती चली गई और बादल भी फैलते गए। पूरब से बादल धीरे-धीरे गहराने लगे। जैसे-जैसे बारिश बढ़ने लगी, वैसे-वैसे हवा भी तेज होती चली गई। फिर अचानक तेज बारिश और आँधी एक साथ आ धमकी। इस झोंके और पानी को देखकर सुरतिया की सारी आशा चकनाचूर हो गई। महीने भर की

मेहनत और पूँजी सब कुछ नष्ट हो गया। टूटे हुए मन से उसने पत्नी से कहा-

"सब कुछ बर्बाद हो गया।"

पति की बात सुनकर फुलेसरी गुस्से में गाँववालों को दोष देते हुए बोली-

"ये सब गड़बड़ गाँववालों की वजह से हुआ। जब गाँव में काली पूजा का अरघेना हुआ, तो सबसे पहले भगता बुलाकर पूजा करवा कर देवी से वचन ले लेना था। वो तो किया ही नहीं, और अपने मन से ही पूजा शुरू कर दी! उन लोगों को क्या नुकसान हुआ? क्या वे हरजाना भरेंगे?"

फुलेसरी की ऊँची आवाज़ सुनकर सुरतिया डपटते हुए बोला- "बस करो अब! यही सब बातें समझती हो। राजा हो या देवता, किसी का क्या ठिकाना! क्या किसी के हाथ में है कि किसे दोष दें? क्या सिर्फ हमारा ही नुकसान हुआ है? कितनों के घर गिरे होंगे, कितनों की चीजें-ज़मीनें बर्बाद हुई होंगी। क्या सिर्फ हम ही मारे गए?"

पति की बात सुनते ही फुलेसरी का ग़ुस्सा गाँववालों से हटकर पड़ोसन पर पहुँच गया। अब वह पड़ोस की औरत को कोसने लगी- "ऐसी अभागिन औरतें हैं जिन्हें दूसरों की भलाई रास नहीं आती। बेटा-बेटा करके लोगों को बरगलाना जानती हैं और दूसरों की गर्दन काटने पर तुली रहती हैं। जैसे हमारा भट्ठा बरबाद हुआ, वैसे ही उसके सातों पुरखे भी तबाह हो जाएँ।"

सुरतिया के घर के बगल में एक विधवा महिला (मसोमात) रहती थी, जिसे गाँव की औरतें डायन समझती थीं। अब फुलेसरी उसी के खिलाफ गरजने लगी। गालियाँ तो वह मसोमात भी सुन रही थी, मगर चूँकि नाम नहीं लिया गया था, कान खड़े किए बैठी थी। जैसे ही नाम लिया जाएगा, वह बाहर निकल आएगी, और फिर कैसी 'घिनौनी' (अशिष्ट दुर्व्यवहार) होती है, सब देख लेंगे!

पत्नी का क्रोध देखकर सुरतिया सोचने लगा- 'एक तो जो नुकसान होना था, वह तो हो ही गया, ऊपर से यह बेवजह का झगड़ा अलग खड़ा हो जाएगा। और वह मसोमात (जिसे डायन समझा जाता है), क्या हमसे कमज़ोर है? उसके तो रिश्तेदार भी ज़्यादा हैं और खुद के दोनों बेटे भी तगड़े-बलशाली हैं। हो न हो, कहीं आकर झगड़ा ठान ही दे। तब तो पूजा भी गई और ऊपर से मार भी खानी

पड़ेगी।’

पत्नी को शांत करने की कोशिश करते हुए वह बोला- “क्या होगा, क्या कोई सिर तोड़ ले जाएगा? भगवान ने जो भोग-पारस (भाग्य) में लिख दिया था, वही हुआ। जो नहीं लिखा था, वह क्या हम करने से हो जाता? फिर इतनी आग-हवा मचाने का क्या फायदा? जो नुकसान हुआ, खपड़े गल गए, मिट्टी बन गए, उसे फिर से गूँथकर सुखाकर भट्ठा लगाया जा सकता है। जो जले या भीग गए हैं, उन्हें भी सुखा लिया जाएगा। देखो तो, खेतिहर लोग साल भर मेहनत कर फसल लगाते हैं, और बाढ़ में बह जाती है, तो क्या वे मर जाते हैं या खेती छोड़ देते हैं? वैसा ही हमारे साथ हुआ है। भगवान ने हाथ-पैर दिए हैं, फिर सबकुछ दोबारा होगा।”

पति की बात सुनकर फुलेसरी का मन कुछ स्थिर हुआ, लेकिन भीतर ही भीतर उसकी खीझ बनी रही। वह बोली- “भगवान भी बड़े दुष्ट हैं। जान-बूझकर गरीबों को ही सताते हैं। जैसे वो करते हैं, वैसे ही हम भी करते हैं। न तो कभी उपवास करते हैं, न कभी पूजा-पाठ करते हैं।”

पत्नी की बात सुनकर मुस्कुराते हुए सुरतिया बोला- “अच्छा अब बस भी करो। जैसे उन्होंने किया, वैसे ही तुम भी करती हो। दोनों बराबर हो गए, सधम-बधम।”

मछुआ सोसाइटी बनने के बाद कुछ लोग तो उसमें उठ-बैठ करने लगे और कुछ लोग गोपलखत्ता (पीछे छूट जाना या हाशिए पर चले जाना) में चले गए। वैसे तो सोलहवाँ पोखर आज तक सोसाइटी में शामिल नहीं हुआ है, लेकिन जो हुआ, उसमें भी मुआवजा तालाब के असली मालिकों को तो मिला ही नहीं। परंतु "सोसाइटी बनने" से नए पानीदार (जल-जमीन के स्वामी) जरूर पैदा हो गए।

क्योंकि एक व्यक्ति के हाथ में पूरा अंचल भर का पोखर आ गया, जिससे उसे भरपूर आर्थिक पूँजी मिल गई। इसके साथ ही सरकारी खजाने की लूट भी शुरू हो गई। सोसाइटी के सचिव और सरकारी तंत्र, दोनों मिलकर गाँव की अमूल्य संपत्ति को मनमाने ढंग से लूटने लगे।

उस सोसाइटी से एक सार्वजनिक तालाब और एक निजी तालाब को डेढ़ हज़ार रुपये सलाना किस्त पर फुदना ने मछली पालन के लिए लिया था। सोसाइटीवाले तालाब की मेड़ तो बिना देखरेख के ही ढह-ढूढ़ कर क्षतिग्रस्त हो गई थी, लेकिन रामधनवाले निजी तालाब की मेड़ अब भी ठीक-ठाक, मजबूत बनी हुई थी।

शुरुआत में ही फुदना ने एक व्यापारी से गंगा का जीरा (मछली के बच्चे) खरीदकर सरकारी तालाब में डाला था। और दूसरे तालाब में तमुरिया की हैचरी से जीरा खरीदकर डाला गया था। गंगा वाले जीरे में रोहु, नैनी और भाकुर मछलियाँ होती थीं, जबकि तमुरिया वाले जीरे में सिल्वरकाफ की मछली होती थी। सिल्वरकाफ साल भर में दो से तीन किलो की हो जाती है, जबकि रोहु-नैनी कम बढ़ती है, पर भाकुर तेज़ी से बढ़ती है। पानी की सतह और तालाब की परतों के हिसाब से तीनों मछलियाँ एकसाथ पाली जाती हैं, इसलिए तीनों प्रजातियाँ मिलाकर डाली गईं।

शुरुआती मानसून में ही खूब बारिश हो जाने के कारण दोनों तालाब पानी से भर गए थे। पानी की भरमार और मछली के बच्चों की जीवंत चंचलता देखकर फुदना और उसकी पत्नी का मन बार-बार आनंद से छलक पड़ता था। लगता था जैसे भगवान ने उनकी दुख-दरिद्रता हर ली हो। किसी तरह से बीस हज़ार से ऊपर की कमाई सुनिश्चित दिख रही थी। जैसे किसान को बहुत फलदार आम के बाग, लहलहाते खेत या दूध देने वाली गाय देखकर खुशी होती है, वैसे ही मछली पालने वाले फुदना और उसकी पत्नी के मन में उमंग भर जाती थी।

इसलिए दोनों पति-पत्नी बारी-बारी से दिन में तीन-तीन बार तालाब के किनारे बैठकर घंटों मछलियों के बच्चों को पानी में तैरते हुए देखा करते। घर लौटने का मन ही नहीं करता था।

फुदना का परिवार पहले से ही मछली के व्यवसाय से जुड़ा हुआ था, मखाना साफ करना, मछली पकड़कर बेचना ही उनकी जीविका का साधन था। लेकिन लगातार तीन साल अकाल (सूखे) पड़ने के बाद फुदना ने "कंठी" (गले में तुलसी की माला) धारण कर लिया। मछली का धंधा क्या छोड़ा, मछली खाना

तक छोड़ दिया। पहले जिसे मछली की गंध बहुत प्रिय लगती थी, अब वही गंध उसे उबकाई देने लगी।

अब वह गाँव की कीर्तन मंडली से जुड़ गया, अष्टयाम और नवाह में जाकर भजन-कीर्तन करता, भंडारे में भी हिस्सा लेने लगा। धीरे-धीरे हारमोनियम और ढोलक बजाना भी सीख लिया। पीछे-पीछे भजन गाते-गाते गाने की भी समझ आ गई। उसने दाढ़ी और बाल भी बढ़ा लिए और पतलखरी (खड़े-खड़े) चंदन भी लगाने लगा। समय के साथ उसे कीर्तन मंडली से आमदनी का एक नया स्रोत मिल गया। अब इस मंडली में कार्यक्रम के लिए बाकायदा बुकिंग भी होने लगी। काम हल्का, इज्जतदार और खाने-पीने के साथ-साथ आमदनी भी संतोषजनक होने लगी।

लेकिन उसकी पत्नी सितिया इस बदलाव से बिल्कुल सहमत नहीं थी।

जिस तरह मछलियों को काटने-छांटने में सितिया निपुण थी, वैसे ही वह उन्हें खाने में भी रस लेकर खाती थी। गाँव के लड़के और औरतें फुदना को अब 'बगुला भगत' कहने लगे थे। उसके घर में एक ही थाली-लोटा था, जिसमें कभी फुदना खाता, कभी उसकी पत्नी।

हाँ, यह बात ज़रूर थी कि फुदना ने कभी भी अपनी पत्नी को मछली खाने से मना नहीं किया। उसे सब कुछ दिखता था, कि मायके से जब कभी कोई संदेश आता है तो मछली ज़रूर साथ आती है। महीने में तीन-चार बार तो जरूर।

सितिया का पिता पेशेवर मछली व्यापारी था। वह गाँव के तालाब मालिकों और मधेपुर के व्यापारियों से मछली खरीदकर उन पर मुनाफा जोड़कर गाँव-गाँव घूमकर बेचता था। इससे अच्छी कमाई हो जाती थी। उन्होंने खेत-खलिहान तो नहीं खरीदे, लेकिन घर अच्छा बनवा लिया और ठीक-ठाक जीवन गुज़ार रहे थे।

एक दिन फुदना का साला टुनटुनमा दो किलो अंडे वाली रोहु मछली लेकर आया। बड़ी-बड़ी गांठें काटकर सितिया मछली तलने लगी।

मछली की खुशबू से फुदना का मन जैसे भीतर ही भीतर कांपने लगा। जैसे कोई पुराना रोग मौका पाते ही फिर से शरीर में जाग उठता है, वैसा ही कुछ

फुदना के साथ हुआ। उसने अपने गले से कंठी (तुलसी माला) उतारी और विवश-सी मुस्कान के साथ पत्नी के पास जाकर बोला- "दो टुकड़े और थोड़ा चूड़ा भूनकर ले आओ न?"

पति की बात सुनकर सितिया व्यंग्य करती हुई बोली- "तीन साल में जो घाटा हुआ है, क्या वह याद नहीं है? रोहु मछली खाने वालों की नज़र कभी कमज़ोर नहीं होती, बुढ़ापे तक भी आँखें चमचमाती रहती हैं। अभी तो मैं चूल्हे के पास से उठ नहीं सकती। घर में चूड़ा भी नहीं है। दुकान से आधा किलो ले आओ, तब तक मैं अंडे वाली मछली तल देती हूँ।"

जैसे किसी चोर को घर में रुपए देख अचानक ऊर्जा आ जाती है, वैसे ही फुदना के शरीर में भी जोश भर गया। उसने जेब से एक दस रुपये का नोट निकाला और दुकान चला गया। सात रुपये में आधा किलो चूड़ा खरीदकर लौट आया। चूल्हे के पास आकर पत्नी से बोला- "तब तक एक टुकड़ा निकालो।"

असल में सितिया की भी इच्छा थी। पिछले दो दिन से दोनों पति-पत्नी भूखे जैसे ही थे। जिससे बात-बात में टोका-टोकी, रगड़ा-रगड़ी चल रही थी। अब जब घर में तला अंडा और चूड़ा भुजिया बनकर तैयार थी, तो सितिया ने चुपचाप फुदना को मछली और चूड़ा परोस दिया।

जिस तरह कोई चीज़ बहुत दिन बाद मिले तो उसका आनंद दुगुना हो जाता है, वैसे ही फुदना को भी मछली-चूड़ा खाने में सुख की अनुभूति होने लगी।

फुदना ससुराल गया था। ससुर के घर में धरे एक कोने पर उसे एक छोटा-सा घूमनेवाला जाल सहेजकर रखा हुआ दिखा। जाल देखकर उसके मन में आया कि यूँ ही पड़ा-पड़ा यह जाल खराब हो जाएगा, इससे अच्छा है कि इसे ले जाया जाए। उसने अपने छोटे साले से कहा कि ज़रा जाल उतारकर दिखा दे। फिर वही जाल मांगकर फुदना गाँव ले आया।

गाँव में किसी को कुछ पता नहीं चला, न किसी से पूछा, न ही किसी को बताया। नया औजार देखकर फुदना मन ही मन फूला नहीं समा रहा था। तीसरे-चौथे दिन से वह आसपास के तालाबों में शाम के समय चोरी-छिपे मछली पकड़ने लगा। खुद भी खाता और अगर ज़्यादा पकड़ता, तो बेच भी लेता।

धीरे-धीरे तालाब मालिकों को संदेह हुआ और निगरानी बढ़ा दी गई। और फिर, एक दिन फुदना रंगे हाथ पकड़ लिया गया। उसी समय तो तालाब मालिक ने कुछ नहीं कहा, बस जाल छीन लिया। पर अगले दिन सुबह पंचायत बुलाई गई। जाल बरामद था, इसलिए किसी गवाही की ज़रूरत भी नहीं पड़ी।

पंचों ने फुदना को पच्चीस बार कान पकड़कर उठक-बैठक कराई और सौ रुपये जुर्माना लगाया। लेकिन जाल वापस नहीं किया गया। आँगन में पहुँचते ही पत्नी ने मुँह खोलकर ज़ोर-ज़ोर से डाँटना शुरू कर दिया।

पत्नी की बातों से फुदना को गहरी ग्लानि हुई। आँखें झुका, कान पकड़कर बोला- "आज के बाद कभी ऐसा काम नहीं करूँगा।"

पति की पश्चात्ताप-भरी बात सुनकर सितिया ने ढाढ़स देते हुए कहा-

"लो, इस जाल को ही गिरवी रखकर मछली पालने के लिए एक-दो तालाब की व्यवस्था कर लो। जब अपना काम होगा, तो जब मन चाहेगा, खाओगे भी और कमाओगे भी।"

लेकिन दिवाली की रात जो मूसलधार बारिश हुई, उसमें सरकारी तालाब की सारी मछलियाँ बह गईं। बाँध के ऊपर की नाली तालाब में घुस गई थी। बारिश थमने के बाद दोनों पति-पत्नी हाथ में टॉर्च लेकर तालाब में मछली देखने पहुँचे। जब फुदना ने देखा कि तालाब का बाँध टूटा पड़ा है, तो उसके बदन में जैसे बिजली दौड़ गई। उसके मुँह से आवाज़ ही नहीं निकली। दोनों हाथ सिर पर रखकर वह मेड़ पर बैठ गया।

टॉर्च लेकर सितिया घाट की ओर गई और चारों तरफ़ टॉर्च घुमाई, पर एक भी मछली दिखी ही नहीं। मछली न देखकर वह अंदर तक टूट गई। मन ही मन सोचने लगी, लगता है सब की सब मछलियाँ बह गईं।

पर गलती तो अपनी भी थी। बाँध को ठीक से बाँधना चाहिए था। अगर किसी मोटी बाँस की आड़ की तरह उसका मुँह रोक देती, तो आज यह दिन नहीं देखना पड़ता। मगर अब क्या? जो चला गया, वह फिर लौटकर थोड़े ही आएगा।

वह चुपचाप पति के पास आकर खड़ी हो गई।

फुदना सोच रहा था- "लोग अपनी कमाई से अपनी पत्नी को गहने-जेवर पहनाते हैं, और हम ऐसे अभागे हैं कि जो कुछ थोड़े-बहुत गहने थे, उन्हें भी पानी में बहा दिया। एक तो मछलियाँ बह गईं, ऊपर से हिम्मत भी साथ छोड़ गई..."

फुदना कुछ भी कह नहीं रहा था। पति की चुप्पी देखकर सितिया बोली-

"सिर पकड़ने या हाथ मलने से क्या मछली लौटकर आ जाएगी? अब आगे क्या करना है, वही सोचो। चलो, चलें और दूसरे तालाब को भी देख लें, वह भी बह गया है या बचा हुआ है।"

फुदना मन-ही-मन सोचने लगा- 'मुझे कुछ बोलना ठीक नहीं होगा। क्योंकि औरतें बेटों से भी बड़े गहनों को समझती हैं। इसलिए वही जो कह रही है, वही सुना जाए।'

टॉर्च लेकर आगे-आगे सितिया और पीछे-पीछे चुपचाप फुदना दूसरे तालाब को देखने चल पड़ा।

तालाब के चारों ओर घूमकर देखने के बाद मुस्कुराते हुए सितिया बोली-

"जीरे (मछली के बच्चों) से तो ज़्यादा आमदनी नहीं होगी। लेकिन अगर एक तालाब भी बच गया, तो इसी से दोनों तालाब फिर से आबाद किए जा सकते हैं।"

पत्नी की बात सुनकर फुदना बोला- "पहले तो यही सोचा था कि जैसे एक तालाब बह गया, वैसे यह भी बह गया होगा। मगर भगवान ने रक्षा कर ली कि एक बचा हुआ है। इतनी मछली के बच्चे हैं कि कोई कह नहीं सकता कि और एक तालाब तैयार हो सकता है। जितने ज़्यादा बच्चों का झुंड होता है, उतनी ही तेज़ी से बढ़ते हैं।"

फुदना की बात सुनकर सितिया के मन में एक नया विचार जागा। वह मन-ही-मन सोचने लगी- 'भले ही एक तालाब बर्बाद हो गया, क्या सिर्फ हमारा ही हुआ? ऐसे-ऐसे और न जाने कितनों के तालाब बह गए होंगे। अब सोसाइटी वाले और तालाब मालिक क्या मुँह उठाएंगे? ऐसी पूंजी है हमारे पास कि अब तो वही लोग खुशामद करने आएँगे। हो सकता है सस्ते में कोई और तालाब भी

हाथ लग जाए। भगवान जब देना चाहते हैं, तो सच में छप्पर फाड़ कर देते हैं।'

वह बोली- "गलती तो हमारी भी थी कि तालाब के मुँह को मज़बूती से नहीं बाँधा था। अगर ठीक से बाँध दिए होते, तो ये दिन नहीं देखना पड़ता। कल सुबह ही पाँच-छह मज़दूरों को बुलाकर मुँह को मज़बूत तरीक़े से बाँध देंगे। अभी तो कार्तिक का महीना है, बहुत समय है। वैशाख-जेठ में अच्छी मछली तैयार हो जाएगी। भले ही तालाब अभी पूरा भरा हुआ है।"

पत्नी की बात सुनकर फुदना बोला- "जब इतनी पूंजी लगा ही दी है, तो थोड़ा और सही। दो मन खैरा (गोबर की खाद) भी ला कर डाल देंगे। वैसे भी देख रहे हैं कि कितने लोग तालाब में खाद भी डालते हैं। मगर हमारे पास उतना सामर्थ्य नहीं है। इस साल जैसे-तैसे कर लें। अगले साल से सब कुछ अच्छी तरह से करेंगे। कोई भी काम आधा-अधूरा करने से कुछ नहीं होता। जितना करेंगे, पूरे मन और तरीके से करेंगे।"❑

चार: घ

कालीपूजा समिति का सदस्य होने के नाते भोला सुबह से ही पूजा-स्थल के काम में जुटा हुआ था। और भला क्यों न जुटता? जो व्यक्ति अपने परिवार से ऊपर उठकर समाज के कार्य को भी अपना कर्तव्य समझता है, वह उसे कैसे छोड़ सकता है? जैसे जीव ब्रह्म का अंश होता है, वैसे ही व्यक्ति समाज का अभिन्न अंग होता है।

स्थल की तैयारी में व्यस्तता के कारण भोला ने उस दिन जलपान भी घर पर नहीं किया। यहाँ तक कि स्नान भी नहीं किया। बस, हाथ-पैर धोकर कुछ खा लिया और फिर निकलते समय पत्नी से कह गया- "हमारा कुछ भी ठिकाना नहीं है, इसलिए तुम पूजा की सारी सामग्री और पर्व की तैयारी पहले से ही कर लो।"

शाम होते-होते जब आँधी-पानी का ज़ोर बढ़ा, तब भोला और मंगल वृंदावन की रासलीला के मंच के आगे खड़े हो मन-ही-मन चिंतित निगाहों से देख रहे थे कि कहीं कुछ गड़बड़ी तो नहीं हो रही। लेकिन फिर जो तूफ़ान और बारिश आई, वह इतनी भयानक थी कि सभी मन के विचार जैसे बहकर गुम हो गए।

कार्यक्रम की घटनाओं को किसी तरह समेटकर भोला घर पहुँचा और अपने बीरार (भैंस-बाड़े) को देखने गया। वहाँ सुबह की अपेक्षा हालत और खराब देखकर उसका मन टूट गया। आमदनी की सारी उम्मीदें चकनाचूर हो गईं।

भोला जैसे एक छोटा किसान था, वैसे ही एक छोटा कारोबारी भी। कुल पंद्रह कट्ठा ज़मीन का मालिक। लेकिन वह और उसकी पत्नी इतनी मेहनती थे कि सात लोगों का परिवार हँसी-खुशी चला रहे थे। चार बच्चे तो अभी छोटे थे, लेकिन बड़ा बेटा बारह साल का बलदेब स्कूल में भी पढ़ता था और घर-बाहर के कामों में भी पूरा साथ देता था।

वैसे भी स्कूल की हालत भी वैसी ही थी, पाँच सौ विद्यार्थियों के लिए

सिर्फ तीन शिक्षक। उनमें से भी एक तो पूरा नेतागिरी में लगा रहता था। उसे पढ़ाने-लिखाने से उतना मतलब नहीं था, जितना दफ्तरों में घूमने और व्यक्तिगत काम निकालने से। वह सिर्फ गाँव वालों का ही नहीं, स्कूल के बाकी स्टाफ का भी निजी काम करता था। इससे न केवल उसकी आमदनी ठीक-ठाक थी, बल्कि बड़े लोगों के बीच उठना-बैठना और समाज में रसूख भी बन गया था। स्कूल से उसका मतलब सिर्फ महीने की उपस्थिति पूरी कर वेतन उठाना था। समाज में उसकी इतनी पकड़ थी कि कोई उसे कुछ कहने की हिम्मत नहीं कर सकता था। थाने से लेकर कोर्ट-कचहरी तक उसके नेटवर्क फैले हुए थे, ऊपर से वह सरकारी पार्टी का नेता भी बना फिरता था।

स्कूल की इस ढीली व्यवस्था से भोला को कोई शिक़ायत नहीं थी। क्योंकि बलदेब तो पूरी तरह माल-जाल (पशुपालन) का बोझ सँभाले हुए था। चारा काटना, खिलाना, पानी देना, गोबर उठाना, बाड़ा साफ करना, सभी काम उसकी जिम्मेदारी थी। ऐसे में न तो भोला को कोई परेशानी होती और न ही चिंता।

लेकिन इसका मतलब यह नहीं था कि बलदेब पढ़ाई नहीं करता। वह पढ़ाई भी करता था। दिन भर तो वह गाय-भैंस के कामों में लगा रहता, मगर रात के बारह घंटे तो उसके पास होते ही थे। दूसरी शाम होते ही भोला चौकस हो जाता, बच्चों के पास बैठकर उनकी गतिविधियों पर नज़र रखने लगता...।

पढ़ाई में बलदेव उतना तेज़ नहीं था , और होता भी कैसे? जब स्कूल ही बीमारी से ग्रसित हो तो उसके हाथ-पैर कितने क्रियाशील रहेंगे? लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि बलदेव बिल्कुल ही फिसड्डी था। जब कोई भी व्यक्ति ईमानदारी से छह घंटे मेहनत करता है तो कोई इंजीनियर बनता है, कोई डॉक्टर, कोई वकील और कोई प्रोफेसर, तो फिर तीन घंटे की मेहनत से बलदेव क्यों पास नहीं कर सकता? हर साल वह कक्षा दर कक्षा आगे बढ़ता जा रहा था।

भोला को इससे बहुत संतोष था, क्योंकि बचपन में उसने अपने पिता से एक बात बार-बार सुनी थी- “उत्तम खेती”।

वह जानता था कि नौकरी और गुलामी में बहुत अंतर नहीं होता। अगर

कोई मेहनत करके जीवन जीने की कला सीख ले, तो इससे अधिक किसी और चीज की ज़रूरत ही क्या है? जैसे राजतंत्र में राजा का बेटा ही राजा बनता था, वैसे ही लोकतंत्र में मंत्री का बेटा मंत्री और अधिकारी का बेटा अधिकारी बनता है। तो फिर दूसरों की बराबरी करने की ज़िद और बेचैनी क्यों? जितना संभव है, उसमें संतोष ही श्रेयस्कर है।

भोला के पास पंद्रह कट्ठा ज़मीन थी, फिर भी वह गाँव के किसानों की गिनती में आता था। उसका खेती करने का अपना एक अलग अंदाज़ था। केवल बरसात के मौसम में धान की खेती करता था, बाकी समय वह तरकारी (सब्जी) की खेती करता था। वैसे बरसात के मौसम में भी वह पाँच कट्ठा ज़मीन पर चौमासे की सब्जियाँ उगाया करता था, और बाकी दस कट्ठे में धान बोता था।

अपने पिता की परंपरा में, उन्हीं दस कट्ठों में पहले रोहनियाँ या मरूआ का बीज बुनकर फसल लगाता था, फिर मरूआ की कटाई के बाद अगहनी धान लगाता था। लेकिन मरूआ की खेती भरोसेमंद नहीं थी। कभी-कभी कम बारिश के कारण बीज ही नष्ट हो जाते, तो कभी ज़्यादा बारिश होने से फसल डूब जाती। क्योंकि मरूआ पानी सहन नहीं कर पाता। लेकिन जिस वर्ष समय पर सब कुछ होता, उस वर्ष दस कट्ठा में दस मन तक उपज हो जाती। किसान मरूआ को पवित्र अन्न मानते हैं, क्योंकि उसमें किसी प्रकार की मिलावट नहीं होती, न उसमें सूड़ा का प्रलोभन होता है और न ही कोई अशुद्धता।

हालाँकि अन्य पर्वों में मरूआ को अशुद्ध अन्न माना जाता है, लेकिन 'जितिया' पर्व में इसे शुद्ध माना जाता है। यह कुछ-कुछ मनुष्य के सामाजिक व्यवहार जैसा है, जैसे विवाह में कुमारी कन्या को पवित्र माना जाता है, लेकिन 'चुमावन' (दूसरे विवाह) में बाल-बच्चों वाली स्त्री को अपवित्र मान लिया जाता है।

त्योहारों का मेल भी मानो मनुष्य के जोड़ जैसा होता है, जैसे विवाह के साथ-साथ दूत्ती विवाह (दूसरी शादी) भी होता है, वैसे ही जितिया पर्व में मरूआ की रोटी और साग या मछली का संग ही उसके अनुष्ठान को पूरा करता है। हालांकि अन्य पर्वों में मरूआ, साग और मछली वर्जित माने जाते हैं...।

धान की भी वही स्थिति रहती थी, जिस साल तेज़ धूप पड़ती, उस साल फसल मर-झुलस कर बर्बाद हो जाती और जिस साल अधिक वर्षा होती, उस साल जलभराव से फसल बह जाती। पर यदि मौसम संतुलित होता, तो दस कट्ठा खेत में दस मन धान की उपज निश्चित हो जाती।

भोला के पिता अन्न की खेती को जुए की तरह समझते थे, इसलिए उन्होंने खेती की दिशा बदली और बीजों का व्यवसाय बढ़ाया। वैसे तो रामझिमनी, झिमनी, भाटा, मिरचाई, सजमैन, घेरा, कदीमा और साग-पात के बीज तो वे खुद ही तैयार कर लेते थे, लेकिन गोभी के बीज बनाना संभव नहीं था। हाट-बाज़ार में भी गोभी के गुट्टा (फूल वाले) बीज नहीं मिलते थे।

एक बार जब वे हरिहर क्षेत्र के मेले में गए, तो हाजीपुर में उन्होंने गोभी के गुट्टा बीज बिकते देखे। वे दुकानदार के पास बैठकर गोभी के बीज की प्रक्रिया समझने लगे। दुकानदार ने रघुनी (यानी भोला के पिता) को गोभी के बीज तैयार करने की विधि बता दी। अच्छी किस्म जानकर रघुनी ने वहाँ से कई प्रकार के बीज खरीद लिए। बीज खरीदने के बाद दुकानदार ने "लक्ष्मी सीड" कंपनी के नाम से पाँच पोस्टकार्ड दिए और कहा- “जिस चीज़ का बीज चाहिए, उसका नाम और वजन लिखकर हमें भेज देना। यहाँ से हम पार्सल कर देंगे।”

यह क्षण रघुनी की ज़िंदगी में एक नया मोड़ बन गया। उसी साल से उन्होंने व्यवसायिक रूप से बीजों का काम शुरू किया। पिताजी के साथ-साथ भोला ने भी यह काम सीख लिया। बाद में वह स्वयं सब्ज़ी की खेती और बीजों के कारोबार में लग गया।

इसी दौरान देश में कृषि मंत्री और प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री जी के नेतृत्व में खेती में हरित क्रांति का कार्यक्रम बना। इस कार्यक्रम का उद्देश्य था देश की भूख मिटाना, क्योंकि भारत को उस समय अमेरिका से गेहूं उधार लेना पड़ता था। उस समय जनसंख्या आज जैसी अधिक नहीं थी, फिर भी पेट भरने में संकट था।

जिस देश की मिट्टी दुनिया के किसी भी कोने से बेहतर है, जहाँ श्रमशक्ति भरपूर है, मौसम अनुकूल है, वहाँ के लोग भूख से मरें, यह कितनी शर्म की बात

थी। यही बात शास्त्री जी और जगजीवन बाबू ने समझी, और उन्होंने नारा दिया:

"जय जवान, जय किसान!"

यह सिर्फ नारा नहीं था, इसके पीछे एक ठोस योजना थी, जो उन्होंने बनाकर पूरी निष्ठा से लागू भी की...।

अदिकाल से चली आ रही खेती में एक नया जागरण उत्पन्न हुआ। हल की जगह ट्रैक्टर, करीन (पशुचालित कोल्हू) की जगह दमकल-बोरिंग तथा साथ ही नए-नए कृषि उपकरण किसानों तक पहुँचने लगे। नए-नए बीजों का अनुसंधान हुआ। कृषि के महत्व के बढ़ने के साथ शिक्षा का भी विकास हुआ। उपज बढ़ाने के लिए रासायनिक खाद, कीटनाशक दवाओं आदि का प्रयोग आरंभ हुआ। इससे कृषि उत्पादन में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई और देश के किसानों में नई चेतना का उदय हुआ।

किन्तु भारत जैसे देश में जितनी गति और जिस स्तर का विकास होना चाहिए था, वह नहीं हो सका। वैसे तो जिन राज्यों की सरकारें और किसान खेती की ओर सजग दृष्टि से बढ़े, वे अवश्य ही विकास की प्रक्रिया से जुड़कर आगे बढ़े। लेकिन जिन राज्यों में ऐसा नहीं हुआ, वहाँ की कृषि फिर से ठहराव की स्थिति में पहुँच गई। मिथिलांचल की तो समस्या और भी जटिल रही। यहाँ केवल विकास की गति थमने की बात नहीं है, बल्कि यह क्षेत्र तो उल्टे पीछे की ओर सरकने लगा। इसका प्रमुख कारण है, बाढ़ की विभीषिका।

यहाँ की पहाड़ी धाराएँ केवल पानी से हानि नहीं पहुँचातीं, बल्कि खेतों की उपजाऊ मिट्टी को काट-काट कर नई-नई धाराएँ बना देती हैं और उपजाऊ ज़मीन को बर्बाद कर बंजर बना देती हैं। इससे खेतों की उर्वरता नष्ट हो जाती है। नई धाराओं के बनने से गाँवों के घर उजड़ जाते हैं, खेत-पथार समाप्त हो जाते हैं। इसलिए यह आवश्यक हो गया है कि इन धाराओं की इस विनाशकारी प्रवृत्ति पर नियंत्रण किया जाए। जब तक ऐसा नहीं होगा, तब तक भरोसेमंद खेती केवल एक कल्पना भर बनकर रह जाएगी।

पचास-साठ वर्ष पूर्व कोसी नदी पर एक बाँध बनाया गया था, जिसमें दोनों ओर, पूर्वी और पश्चिमी भागों में, नहर परियोजना की योजना बनी थी। परंतु

आज तक उसका जैसा समुचित उपयोग होना चाहिए था, वैसा नहीं हो सका। इसके अतिरिक्त सरकारी उपेक्षा के कारण ऐसी स्थिति बन गई है कि कोसी क्षेत्र का अधिकांश हिस्सा हर वर्ष बाढ़ की चपेट में आता रहता है।

हालाँकि कोसी के पूर्वी और पश्चिमी हिस्सों में मुख्य नहरें बनीं, जिनसे कुछ शाखा-नहरें भी बनीं, परंतु वे पूरी तरह साकार नहीं हो सकीं। मुख्य नहर के भीतर सीमेंट और ईंट से चिनाई भी की गई, लेकिन निर्माणकर्ताओं और ठेकेदारों की बदनीयती के कारण कार्य अधूरा या घटिया हुआ, जिससे कई स्थानों पर दीवारें ढह गईं और नहरें मिट्टी से भर गईं।

मुख्य बहाव रुक जाने और बाढ़ के दबाव से कई जगह नहरें टूट भी गईं। यद्यपि प्रत्येक वर्ष उनकी मरम्मत होती है, और वे फिर टूट जाती हैं, फिर भी इससे किसानों को थोड़ी-बहुत सुविधा अवश्य मिलती है। जहाँ-जहाँ पानी की सुविधा उपलब्ध है, वहाँ के किसानों की ज़िंदगी में एक क्रांतिकारी बदलाव की संभावना बनी है। परंतु सरकारी तंत्र की शिथिलता के कारण जितना लाभ किसानों को मिलना चाहिए, उतना नहीं मिल पाता।

और शाखा-नहरें भी अब तक पूरी तरह तैयार नहीं हो सकीं। इससे भी दुर्भाग्यपूर्ण बात यह रही कि पिछले वर्ष कुसहा क्षेत्र में पूर्वी तटबंध टूट गया, जिससे पूर्वी इलाका नष्ट हो गया और नहरों की पूरी रूपरेखा ही ध्वस्त हो गई। परिणामस्वरूप, क्षेत्र की स्थिति फिर से वैसी ही हो गई जैसी पहले थी, बाढ़ग्रस्त और अविकसित।

कोसी नहर की तरह ही बोरिंग-दमकल (पंप सेट) योजना की स्थिति भी बेहद चिंताजनक है। छोटे किसानों के लिए नव्वे प्रतिशत सब्सिडी पर बोरिंग और तिहाई सब्सिडी पर दमकल देने की योजना आरंभ तो की गई, लेकिन वह सीमित दायरे तक ही सिमटकर रह गई। इसका लाभ केवल गाँव के पाँच से दस प्रतिशत खेतों तक ही पहुँच सका।

लेकिन व्यापारियों द्वारा घटिया क्वालिटी की बोरिंग पाइपें और खराब दमकलें किसानों को दी गईं, जो दो-तीन वर्षों के भीतर ही पूरी तरह बेकार हो गईं। नतीजा यह कि एक भी बोरिंग या दमकल खेत में उपयोगी न रह गई, परंतु

बैंक से लिए गए कर्ज का बोझ किसानों पर जस का तस बना रहा। यह कर्ज चक्रवृद्धि ब्याज सहित इस तरह बढ़ता गया कि किसानों को मूलधन सहित ब्याज चुकाने के लिए केवल गाय-भैंस ही नहीं, अपने खेत और पथार तक बेचने पड़ रहे हैं। अब खेती की उपज की बात तो दूर रही, स्वयं खेत ही किसानों के हाथ से निकलते जा रहे हैं।

जैसे पहले किसान पानी के लिए लाचार था, आज फिर वैसी ही स्थिति उत्पन्न हो गई है। सिंचाई की अनुपलब्धता के कारण खेती पीछे हटने लगी है। जो किसान अपनी पूँजी लगाकर निजी स्तर पर बोरिंग-दमकल खरीद कर खेती करना चाह रहे थे, वे अब खाद और बीज के व्यापारी के हाथ का खिलौना बनकर रह गए हैं। घटिया खाद और नकली बीजों के कारण उनकी खेती और भी बर्बाद हो गई है।

कभी खाद अच्छी मिल गई तो बीज खराब निकला, और कभी बीज अच्छा हुआ तो खाद घटिया निकली, इस दोहरी मार से किसान का सपना हर साल टूटता रहा। खेती की बर्बादी से त्रस्त होकर गाँव के लोग बड़ी संख्या में पलायन कर पंजाब, दिल्ली, मुंबई और कोलकाता की ओर भागने लगे। फलस्वरूप गाँव के गाँव वीरान हो गए।

हालाँकि जनसंख्या में कोई स्पष्ट कमी नहीं दिखती, परंतु श्रमशक्ति का घोर अभाव अब स्पष्ट रूप से अनुभव किया जा रहा है। उपजाऊ मिट्टी का क्षरण हो गया है। जहाँ कभी सोलह आने उपज मिलती थी, वहाँ आज आधे या तिहाई की भी स्थिति नहीं बची है।

जो गाँव कभी अन्न की कोठारी कहलाता था, वह आज राजस्थान जैसी मरुस्थलीय भूमि में बदल गया है। जहाँ हरियाली से भरपूर पेड़-पौधों से सजा हुआ गाँव था, वह आज एक वस्त्रहीन नारी के समान निर्वसन दिखाई पड़ता है। जो थोड़ी बहुत उपजाऊ भूमि बची भी है, वहाँ पानी की कमी, और खाद-बीज की गड़बड़ी के कारण पूरा दृश्य नर-कंकाल सरीखा भयावह बन गया है।

सभी विपरीत परिस्थितियों के बावजूद भोला शांति और संतोष के साथ गृहस्थी करता है, और वह एक आदर्श गृहस्थ के गौरव से विभूषित है। इसका

कारण यह है कि जिन बड़े-बड़े ज़मींदारों और खेतवालों ने मेहनत की, वे अपने खेत-पथार लेकर तो नहीं चले गए, खेत तो गाँव में ही रह गए। ऐसे में भोला जैसे मेहनती खेतिहर किसानों के लिए यह एक सुनहरा अवसर बन गया।

अब तक गाँव में जो बटाई (फसल साझा) की परंपरा चली आ रही थी, उसमें भी सुधार हुआ है। पहले बटेदार (जो दूसरे की ज़मीन जोतते थे) को फसल का आधा हिस्सा मिलता था, जिससे वे हमेशा घाटे में रहते। घाटे की खेती से तंग आकर बटेदारों ने बटाई छोड़कर मजदूरी को बेहतर विकल्प मानना शुरू कर दिया था।

परन्तु बटाई व्यवस्था में जब सुधार हुआ, तब स्थिति बदल गई। अब धान की उपज में ज़मीन मालिक को प्रति कट्ठा पंद्रह किलो अनाज दिया जाता है और शेष बटेदार के हिस्से में आता है। गेहूँ की उपज का बंटवारा भी इसी प्रकार तय होता है। यहाँ तक कि सब्ज़ी की खेती भी अब इसी सुधारित बटाई पद्धति से की जा रही है।

भोला अकेला आदमी है, ऐसे में वह बहुत ज़्यादा खेती नहीं कर सकता, फिर भी वह एक बीघा ज़मीन बटाई पर लेकर खेती करता है। वैसे उसके पास खुद की पंद्रह कट्ठा ज़मीन भी है। उस एक बीघा ज़मीन पर पहले वह गरमा धान की खेती करता है, फिर धान काटने के बाद समय रहते गेहूँ बो देता है। गेहूँ भी समय पर तैयार हो जाता है। गेहूँ काटकर ज़मीन को पटा कर वह "पूसा बैशाखी" किस्म की खेरही की फसल उगाता है। यही उसका वार्षिक फसल चक्र है।

भोला साल भर मेहनत करता है, और खेत मालिक का हिस्सा भी समय पर देता है। सब्ज़ी की खेती में भी उसने नवाचार किया है। अब वह हाजीपुर से बीज मंगवाना छोड़ चुका है और प्रतिष्ठित कंपनियों से हाइब्रिड बीज मँगवाकर स्वयं खेती करता है और बीज भी बेचता है। इससे उसका हर दिन व्यस्त रहता है और आमदनी भी लगातार अच्छी बनी रहती है।

इस बार गाँव में काली पूजा मेले के अवसर पर पंद्रह स्थानों पर बीज बोने की योजना बनाई। क्योंकि क्षेत्र के लोग भोला के बीज की गुणवत्ता को जानते हैं, उन्हें पता है कि भोला के बीज जैसी गुणवत्ता किसी व्यापारी के बीज में नहीं

होती। वह अच्छे बीज को भी अन्य व्यापारियों की तुलना में सस्ते में बेचता है।

लेकिन इस बार भोला की तकदीर जैसे गर्दन पर छुरी बन गई। चौमासे (बरसात के मौसम) में इतनी भीषण वर्षा हुई कि दानों को फोड़कर रख दिया, पूरी बीरार की ज़मीन कीचड़ और गारे से भर गई। बीज की इस दुर्दशा को देखकर भोला को गहरा धक्का पहुँचा। लेकिन उसने हार नहीं मानी। उसमें आशा की यह लौ बनी रही कि एक बार फसल नष्ट हो गई तो क्या, फिर से बो देंगे, मेहनत दोबारा करेंगे। ❑

चार: ङ

दुकान की बिगड़ती दशा देखकर पति-पत्नी दोनों का मन बेचैन हो उठा। सालभर की मेहनत यों मिट्टी में मिलती देख सुरजी झुंझलाकर पति से बोली, "जिसकी बंसी होगी वही तो नचाएगा। न जाने किस नीच सलाह ने आपको आ घेर लिया कि मिठाई की दुकान खोल डाली! हलवाई का काम जब दूसरी जाति करेगी, तो यही तो होगा।"

एक ओर पूंजी डूबती देख ललित परेशान था, दूसरी ओर पत्नी की उलाहना से उसका मन कांपने लगा। कड़वे स्वर में बोला- "कोई काम किसी जाति से बंधा नहीं होता। जिसके पास हुनर होगा, वह क्यों नहीं करेगा? क्या हम अकेले ही बर्बाद हुए या सबके साथ यही हुआ?"

"सबका ही तो हुआ। गांववालों ने भी कुछ कम नहीं किया। बिना काली महरानी की अनुमति लिए ही गांव में पूजा का संकल्प ले लिया। पहले किसी भगत को बुलाकर पूजा की विधिपूर्वक अनुमति ले लेते, तो ऐसा नहीं होता। देवी-देवताओं को भी मजाक समझ बैठे। तभी तो यह सब हो रहा है।"

पत्नी की बात सुनकर ललित मौन रह गया।

चार साल पहले वह नौकरी की तलाश में विराटनगर गया था। एक हलवाई की दुकान पर काम मिला। शुरू में उसे मिठाई बनाने की कोई जानकारी नहीं थी, लेकिन धीरे-धीरे हर तरह की मिठाई और अन्य व्यंजन बनाना सीख गया। दो साल बाद उसके मन में विचार आया कि जब सब कुछ सीख ही लिया है, तो बेवजह नौकरी क्यों करे? क्यों न अपने गांव में ही जलपान और मिठाई की दुकान खोली जाए?

गांव लौटकर जब उसने विचार किया तो महसूस हुआ कि यहां मिठाई की दुकानें चलती नहीं। कभी-कभी ही कोई मिठाई खरीदने आता है। उस पर भी देखता था कि गांव की एक मात्र चाय की दुकान पर भी हर दिन उधार को लेकर

ग्राहकों से झगड़ा होता रहता है। ऐसे में फिर से विराटनगर लौटने की इच्छा जगी, परंतु जो परिवार प्रवासी मजदूर की तरह जीवन जी रहा था, उसकी स्थिति देखकर मन न माना। महीने-महीने रुपए भेजते रहो, पर घर का कोई ठौर-ठिकाना न हो। न बच्चे स्कूल जाते, न पत्नी कोई काम करती। सोचा कि अगर गांव में ही रहूं, तो सब कुछ सुधर जाएगा। गांव में भी काम की क्या कमी है?

फिर मन में विचार आया कि अब तो गांवों में इतने भोज-कार्यक्रम होते हैं कि यदि मेहनत किया जाए तो विदेश से भी अधिक कमा सकते हैं। पहले की तरह अब लोग कच्चा-पक्का भोजन नहीं करते। अब तो छोटी से छोटी बारात में भी पूड़ी-मिठाई खिलाते हैं, और श्राद्ध भोज में भी मिठाई जरूरी हो गई है। हजार-हजार, डेढ़-डेढ़ हजार रुपये एक आयोजन में मिठाई बनाने वाले को मिलते हैं। शादी का सीजन तो सीमित होता है, पर श्राद्धों का तो कोई मौसम नहीं। अन्य काम भी उठाकर रख लूंगा, और जिस दिन मिठाई का काम मिलेगा, उस दिन उसे कर लूंगा। साल में पच्चीस-पचास ऐसे काम मिल जाएंगे, तो पच्चीस-पचास हजार की आमदनी हो ही जाएगी। पर्व-त्योहारों और मांगलिक अवसरों में भी मिठाई की मांग खूब रहती है। अभी तो यह शुरुआत का समय है, इसलिए नुकसान जैसा लग रहा है, लेकिन जब नियमित काम मिलेगा तो कारोबार खुद-ब-खुद बढ़ेगा।

अब पहले की बात नहीं रही। पहले तो लोगों को पेट भर भोजन भी मुश्किल से मिलता था, अब ऐसा नहीं है। जैसे-जैसे जीवन-स्थितियाँ सुधरेंगी, वैसे-वैसे खाने-पीने और अन्य व्यावसायिक गतिविधियाँ भी सुधरेंगी। वैसे भी, गांव में कितने हलवाई हैं ही कितने? जब लोगों को पता चलेगा कि पास के गांव का युवक इतनी स्वादिष्ट मिठाइयाँ बनाता है, तो दूसरे गांवों से भी लोग उसे काम पर बुलाने लगेंगे।

सोचते-विचारते ललित ने अंततः यह निश्चय कर लिया कि वह गांव में रहकर ही अपना कारोबार करेगा। निर्णय लेते ही वह मिठाई बनाने के सामान और बर्तनों की खरीदारी में जुट गया। पाँच दिन बाद ही फागुन का शुभ विवाह-मौसम शुरू हो गया। हे भगवान! ऐसा लग्न तो वर्षों में एक बार आता है। पंद्रह-

सोलह दिन लगातार शादियाँ ही शादियाँ।

बुजुर्ग लोग भी कह उठे- "ऐसा लग्न कम ही आता है!" और फिर, यह कोई सरकारी नौकरी तो है नहीं कि महीने के अंत में जितनी तय तनख्वाह हो, उतनी ही मिले। यहाँ तो काम जितना बढ़ेगा, कमाई भी उतनी बढ़ेगी। ठीक वैसे ही जैसे किसी वस्तु की आपूर्ति कम हो, तो उसका मूल्य बढ़ जाता है, काम कम रहेगा, तो मेहनताना भी कम मिलेगा; लेकिन जब काम ही काम होगा, तब मेहनताना भी अधिक मिलेगा। कुल मुनाफे को जोड़कर ही तो महीने की आमदनी का हिसाब बैठता है।

सोलह लग्नों के बीच ललित ने चौबीस हजार रुपये कमा लिए। उस पर खाने-पीने की खातिर दावतों में जो सेवा-सम्मान मिला, सो अलग। ऊपर से कुछ-कुछ उधारी में दिए गए सामानों से अलग आमदनी भी हो गई। पूरा एक महीना व्यस्तता में बीत गया।

लेकिन इस कमाई के साथ ही एक नया रास्ता भी ललित को दिख गया। हुआ यह कि अंतिम लग्न में जब वह एक आयोजन में मिठाई बनाने गया, तो देखा कि घरवाली मौजूद नहीं है। वह बारातियों के भोजन पकाने और उन्हें परोसने के लिए बर्तन किराए पर लेने गई थी।

इसी बहाने बातचीत का समय मिला। बातों-बातों में ललित को यह पता चला कि दो दिन के लिए बर्तन-किराया दो हजार रुपये लगेंगे। उसने कुछ नहीं कहा, पर मन ही मन सोचने लगा- 'जितनी कमाई मैं दो दिन की मेहनत में करता हूँ, उतनी तो बर्तन किराए से ही हो रही है!' विचार मन में बैठ गया।

वह बैठकर बर्तनों का पूरा हिसाब लगाने लगा। तब उसे एहसास हुआ कि जितनी अधिक पूंजी लगाएगा, उतना ही बड़ा व्यापार खड़ा हो सकता है। परन्तु तत्काल इतनी पूंजी भी नहीं है और न ही घर में सामान रखने की जगह। सो विचार किया कि पहले तो एक पक्का घर बनाना जरूरी है। जब घर बन जाएगा, तब शुरुआत में भले ही कम हो, पर एक बारात जितने बर्तन-बासन अवश्य खरीद लेंगे। फिर धीरे-धीरे जैसे-जैसे पूंजी आएगी, वैसे-वैसे व्यापार को भी बढ़ा लेंगे।

नए व्यापार की संभावना देखकर ललित के मन में उत्साह की लहर दौड़

गई। यह खुशी उसके चेहरे से झलकने लगी। पर तभी उसकी नज़र टेंट और जेनरेटर पर पड़ी। वह सोचने लगा- 'इनके लिए भी सामान चाहिए। अकेले के बूते यह सब कैसे सम्भव होगा? मिठाई भी बनानी है और फिर इन सबका भी प्रबंध करना है!'

सोचते-सोचते उसका मन थोड़ी देर को उलझ गया। फिर विचार आया कि टेंट और जेनरेटर में तो स्वयं उपस्थित रहना जरूरी है, पर बर्तनों में ऐसा नहीं है। बस गिनकर देना है और गिनकर लेना है। यानी इसमें कार्य अपेक्षाकृत सरल है।

साल भर के भीतर ललित ने अन्य काम भी सम्हालने शुरू कर दिए। अब वह दोहरी कमाई करने लगा। उसकी आमदनी और बढ़ता हुआ काम देखकर गांव के लोग कहने लगे- "ललित का भाग्य जाग गया है!"

और क्यों न जागे? सोया हुआ भाग्य तभी तो जागता है जब बुद्धि जागृत हो। अगर बुद्धि को न जगाओ, तो वह यों ही गाफ़िल पड़ी रहती है, अन्धेरे में डूबी हुई, खोई हुई।

दोहरा कारोबार शुरू होने के बाद भी कुछ समय पश्चात ललित को एक प्रकार की खालीपन और ठहराव महसूस होने लगा। बैठते ही उसके भीतर विचारों का सिलसिला चल पड़ा- "इस जमा पूंजी को किस प्रकार सार्थक कार्य में लगाया जाए?" अपने खुद के खेत-खलिहान तो थे नहीं, पर संयोग अच्छा रहा।

इसी बीच गांव का एक व्यक्ति, मकसूदन, जिसकी मां गंभीर रूप से बीमार पड़ गई थी, ललित के पास सहायता की उम्मीद में पहुँचा। उसकी माँ को इलाज के लिए लहेरियासराय ले जाना ज़रूरी था। गांव में तमोरिया के डॉक्टर ने स्पष्ट कह दिया था कि "इस बीमारी की जांच के लिए हमारे पास ज़रूरी मशीनें नहीं हैं, लहेरियासराय ले जाना ही पड़ेगा।"

मकसूदन की बातें सुनकर ललित ने सहज स्वर में कहा- "हमसे क्या कहना है। अगर शारीरिक सहयोग चाहिए तो अभी साथ चल देता हूँ।"

मकसूदन संकोचपूर्वक बोला- "नहीं भैया, बात साथ चलने की नहीं है। ज़रूरत पैसों की है।"

और फिर उंगली से इशारा करते हुए कहने लगा- “आपके घर के बगल में जो दस कट्ठा खेत है, उसे मैं भरना पर दे दूँगा। आप कृपा करके पंद्रह हजार रुपये दे दीजिए।”

उसकी विवशता देखकर ललित के मन में विचार आया- “बीमारी हो या बच्चों की पढ़ाई, ऐसे वक्त में मदद करना महज लेन-देन नहीं होता, यह तो घर के धर्म का पालन है।” उसने घर से पंद्रह हजार रुपये निकालकर दे दिए।

रुपये लेते ही मकसूदन संकोचपूर्वक पूछ बैठा- “भैया, कागज़ बनवा लें?”

‘कागज़’ शब्द सुनते ही ललित स्तब्ध रह गया। भीतर ही भीतर सोचने लगा- ‘क्या मैंने कोई सौदा कर लिया है, जो कागज़ की ज़रूरत पड़े? भरना में कागज़ की क्या आवश्यकता? समाज चाहे जितनी छल-कपट से भर गया हो, पर समाज अब भी समाज है। आज भी गांव में ऐसे लोग हैं जो दूसरों के बच्चों की पढ़ाई, इलाज और माता-पिता के अंतिम संस्कार तक में निःस्वार्थ सहयोग करते हैं, बिना किसी लिखत-पढ़त के। फिर कागज़ बनवाने की बात क्यों?’

‘अगर मन में कपट होगा तो कागज़ से क्या होगा? और अगर नीयत साफ होगी, तो बिना कागज़ के भी संबंध निभाए जाएंगे। ज़मीन तो खैर मेरे ही कब्जे में रहेगी। और क्या समाज यह नहीं समझेगा? यदि समाज में बेईमानी और स्वार्थ बढ़ भी गया हो, तो यह भी तो सच है कि आज कई लोग अपने बूढ़े माता-पिता को खाने-पीने तक में तकलीफ़ देते हैं। उनके साथ क्रूरता करते हैं। तो क्या अब रिश्तों को भी कागज़ से बाँधना होगा?’

‘ईमानदारी और बेईमानी का फ़ैसला कागज़ नहीं करता, वह आदमी के अंदर के विचार और संस्कार करते हैं।’

इस दृष्टिकोण से देखें तो भला मकसूदन को बेईमान कैसे कहें? वह तो अपने मुंह का निवाला काटकर अपनी माँ के इलाज के लिए जा रहा है। जिस व्यक्ति में अपनी माँ के प्रति इतनी निष्ठा और त्याग है, उसमें ईमानदारी भी निहित ही होगी। ऐसे इंसान से कोई कागज़-पत्र बनवाना आवश्यक नहीं। आज भी गांव में अनेक भरना (बंधक) ऐसे हैं, जिनके बीच कोई लिखत-पढ़त नहीं

हुई, पर संबंध निभते रहे।

अगर वह बेईमानी करता भी है तो भी उसे माँ-बाप समझकर ही मानना होगा कि हमने समाज सेवा की। फिर अगर ज़मीन की रजिस्ट्री कराई जाए, तो उसमें भी खर्च आधा हमें उठाना पड़ेगा और आधा उसे। और फिर ऐसे संकट की घड़ी में एक-एक पैसे का महत्व लाखों के बराबर होता है।

सोच-विचारकर ललित ने मकसूदन से कहा- "भैया, आप माँ का इलाज कराइए। लिखत-पढ़त की कोई ज़रूरत नहीं है।"

रुपये हाथ में आते ही मकसूदन के मन में विश्वास जाग गया कि अब उसकी माँ का इलाज संभव होगा। अक्सर काम का संयोग भी यही कहता है कि जब नियति में भला लिखा हो, तो कोई बाधा नहीं आती; और जब कुछ अधूरा हो, तो हर कार्य में कोई-न-कोई विघ्न उत्पन्न होता ही रहता है।

दस कट्ठा ज़मीन पर अधिकार मिलने के बाद ललित का मन उमंग और संतोष से भर उठा। उसी समय सुरजी, उसकी पत्नी, पास आई और मुस्कराकर बोली- "अगर वे फिर पैसे माँगेंगे तो क्या आप फिर देंगे?"

पत्नी की यह बात सुनकर ललित का मन और अधिक प्रसन्न हो गया। वह हँसकर बोला- "क्यों?"

सुरजी ने जवाब दिया- "आप खेत-पथार की बात शायद उतनी नहीं समझते। थोड़े-थोड़े करके जब ज़मीन अधिक हो जाएगी, तब एक ही बार में उसे अपने नाम लिखवा लेंगे।"

यह सुनते ही ललित को पत्नी की सूझ-बूझ और साथ पर गर्व हुआ। जीवन का हर निर्णय, हर सौदा, मानो सिर्फ लेन-देन नहीं, बल्कि एक परिपक्व सोच और सहृदयता से जुड़ा हुआ था।

पत्नी की बात सुनते ही ललित के मन पर जैसे अस्सी मन पानी गिर पड़ा। भीतर से कुछ बुदबुदाया- "देखिए इस दुनिया की रीत... एक घर में रोना, तो दूसरे घर में गीत!"

वह झुंझलाकर बोला- "जब कुछ समझना होगा, तब पूछ लूँगा। जाओ,

आँगन-घर का काम देखो ज़रा।”

सुरजी चुपचाप चली गई। ललित फिर सोचने लगा, पहले तो दूसरों के खेतों में मजदूरी करता था, जो अढ़ाई मन देता था, वही लेकर काम करता था। अब जब खुद के पास खेत आया है, तो सिर्फ मेहनत से काम नहीं चलेगा। खेती का हुनर तो है, लेकिन गृहस्थी के लिए यह काफी नहीं। यह भी समझना ज़रूरी है कि किस मौसम में कौन-सी फसल उगाई जाए। केवल मेहनत से नहीं, समझदारी से भी खेत चलाया जाता है।

ललित की नज़र अब नजदीक के खेत पर गई, खेत तो सुंदर है, घर के पास ही है और बगल में बोरिंग भी है। क्यों न ऐसी खेती की जाए जिससे अधिक से अधिक उपज हो? साल भर तो मौसम बदलता रहता है, वैसे ही फसलें भी बदली जाएँ।

उसने सोचा, सबसे पहले गरमा धान बो दूँ, जो चार महीने में तैयार हो जाती है। उसके बाद आलू की फसल ले लूँ, जिसे तीन महीने में निकाला जा सकता है। आलू के बाद प्याज़ की खेती कर लूँ, जो बैसाख के आते-आते तैयार हो जाएगी। ज़मीन थोड़ी ही सही, उपज अधिक होगी। साथ में और भी कारोबार हैं, मैं कारीगर भी हूँ, समय की भी तंगी रहती है।

गांव में जब मेला लगा, तो ललित ने मिठाई की एक शानदार दुकान सजा ली। लेकिन झमाझम बारिश और कीचड़ के कारण न सिर्फ मिठाइयाँ खराब हो गईं, बल्कि सामान भी बर्बाद हो गया। फिर भी जब ललित ने देखा कि केवल उसका ही नहीं, सबका नुकसान हुआ है, तो उसका मन विचलित नहीं हुआ। "कर्ज़ लेकर थोड़े ही दुकान खोली थी कि नुकसान के साथ ही साहूकार सिर पर चढ़ जाए!”

रातभर ललित और सुरजी दोनों मिलकर दुकान का बचा-खुचा सामान समेटते रहे।

उधर, पांच दिन पहले ही ललित ने दस कट्ठा खेत में 'कुफरी अलंकार' किस्म का आलू लगाया था, समस्तीपुर से बीज मंगवाकर। लेकिन जब भोर में खेत देखने पहुँचा तो ठोड़ी तक पानी भरा हुआ था। यह दृश्य देखकर उसका दिल

बैठ गया। एक ओर दुकान की पूंजी डूबी, दूसरी ओर खेत भी जलमग्न! आलू की पूरी फसल मिट्टी के नीचे सड़ जाएगी। और खेत की हालत ऐसी कि महीने भर जोताई भी न हो पाएगी, दोबारा बुआई की तो बात ही दूर।

खेत से लौटते ही ललित ने झोला पटक दिया। पेट के बल लेट गया। मन में आया, छह महीने की कमाई पानी में चली गई! लेकिन तभी आत्मबोध की एक लहर उठी, क्या अब जान भी दे दूँ? जो सबके साथ हुआ, वही मेरे साथ भी हुआ। जैसे सब दिन काटेंगे, वैसे ही मैं भी काट लूँगा। बेवजह रोने-धोने से कुछ नहीं होगा।

विपत्ति की इस घड़ी में भी ललित अपने भीतर से आशा का एक दीप जलाए बैठा था, गिरना कोई हार नहीं, उठना ज़रूरी है! ❑

पाँच

जैसे पूरी रात गांव के लोग जागते रह गए, वैसे ही मेले देखनेवाले और दुकानदारी करनेवाले भी रातभर जगे रह गए, लेकिन सबको खुद पर ही अचरज हो रहा था- "हम जो आम तौर पर रात को जल्दी सो जाते हैं, आज कैसे दिन से भी ज्यादा काम कर बैठे?"

रात घोर अंधकार से भरी हुई थी, ना कोई रोशनी, ना चाँद। ऊपर से अमावस्या की वह रात, जिसमें घने काले बादलों ने अंधकार को और भी घना बना दिया था। आधी रात के समय से ही दुकानदार और नाच-तमाशे वाले कलाकार एक-एक कर भागने लगे।

वैसे गांव में आमतौर पर गाड़ी-सवारी का संकट रहता है, लेकिन मोबाइल नामक अद्भुत यंत्र ने संकट को उलट दिया। रातों-रात पता नहीं कहाँ-कहाँ से गाड़ियाँ आ गईं और जब तक भोर हुई, तब तक सारा मेला ऐसा उजड़ गया जैसे बारिश के बाद कीचड़ से भरा खेत हो जाता है।

गांव के लोग और आस-पास के मेहमान, जब अपनी जान बची देखे, तो राहत की साँस ली। जब सब अपने-अपने सामान की गिनती करने लगे, तो कोई खुशी से भर उठा कि सब कुछ सुरक्षित है, तो कोई अपने सामान और अन्य चीज़ों के नुकसान को लेकर कम या ज्यादा दुखी था।

लेकिन किसी को भी यह नहीं लगा कि वे दैव की मार का प्रतिरोध कर सकते हैं। इसलिए सबने अपने भाग्य को कोसा, आँसुओं में भीगते हुए बेचैन मन से यह मान लिया कि "यह सब भाग्य का लिखा था।"

वृंदावन की रासलीला, मुज़फ्फरपुर का नाटक, मेल-फीमेल की कव्वाली पार्टी, और महिसौंठा की 'मलिनियाँ' नाच पार्टी, सभी आयोजनों ने आधा-आधा रुपया पहले ही बुकिंग के समय ही ले लिया था। ऐसे में आयोजकों से मिलकर कोई हिसाब करना ज़रूरी नहीं समझा और चुपचाप अपने डेरे उखाड़ लिए।

कारण यह था कि स्टेज पर जो घटना घटी, उसने सबकी रूह को कंपा दिया था। जैसे ही हादसा हुआ, वैसे ही पुलिस और प्रशासन की हलचल शुरू हो गई। और जब हलचल शुरू होगी, तो कौन किसके चपेट में आ जाए, कहा नहीं जा सकता। "जान बची रहे, तो बदन से कपड़े भी खींचकर कमा लिए जाएँगे.. लेकिन यहां से निकल जाना ही समझदारी होगी।"

ऐसे में व्यापारी और कलाकार सोचते रहे- "पूंजी तो गई ही, अब अगर कोट-कचहरी के झंझट में भी फँसेंगे, तो जो कुछ बचा है, वह भी नष्ट हो जाएगा। बेहतर है कि जान सलामत रहे, आगे फिर कमाने का अवसर मिल ही जाएगा।"

आस-पास के गांव वाले तो धीरे-धीरे स्थिति समझने लगे, लेकिन गांव के भीतर देवनाथ और जोगिन्दर की गिनती अब भी नहीं हो रही थी। रात में ही वे मरे या कहीं गिर पड़े, यह बात मंगल के मन को झकझोरती रही।

उसके भीतर डर और संशय की लहरें थम नहीं रही थीं। जैसे कोई अनहोनी उसकी देह के रोम-रोम में दस्तक दे रही हो..।

गांव में जो भी अतिथि और बाराती आए हुए थे, उनके मन में यही सवाल गूंजता रहा- "आखिर हम आए कहाँ थे? कहीं आए भी या नहीं?" जैसे बारिश में पेड़ पर ठिठक गई चिड़ियाँ काँपती रहती हैं, वैसे ही यह असहजता, यह बेचैनी, मेहमानों के मन में बनी रही। पर वे कहें भी तो किससे? और सुनता कौन?

लोग अपने-अपने आँगन और घर के कोनों में टाट-पट्टी समेटते हुए बस चुप थे..। हालांकि, जेठ की दोपहरी में झुलसी धरती जब बारिश की पहली बूँद पाती है, तो जैसे माटी से भीनी-भीनी सुगंध फूट पड़ती है, ठीक वैसे ही कुछ था उस पल में। न जाने किस दिशा से ठंडी हवा की झोंकें चली आईं, किसी ने देखा भी नहीं।

जैसे युवावस्था के आगमन पर शरीर का प्रत्येक अंग अपनी सुंदरता से आकर्षण बिखेरता है, वैसे ही धरती, जो अभी-अभी तक प्यास से जली जा रही थी, एक भरपूर पानी पीते ही अपनी सारी शक्तियाँ समेट कर प्रियतम को बाँहों में भरने को व्याकुल हो उठी, वह मानो वारहमासा सुनाने लगी।

प्यास से सूखा हुआ किसान भी जैसे पानी पीते ही जी उठा। उसकी आँखें

प्रिय धरती की ओर उठ गईं, जैसे कहना चाहती हों- अब तक मैं मृत्यु के द्वार पर था, पर आज तूने मुझमें न केवल जीवन, बल्कि नवसृजन की ऊर्जा भर दी है।

अब तक गांव के किसान धान की खेती में उलझे पड़े थे। इस बँटवारे और बिखराव के पीछे कई कारण थे, पर दो कारण मुख्य रूप से उभरते हैं, एक तो खेत की बनावट और किसानों की मानसिकता, और दूसरा खेती का पारंपरिक स्वरूप जो अब भी वैज्ञानिक तकनीक और आधुनिक पद्धतियों के अभाव में पिछड़ता जा रहा है।

जहाँ खेती में उन्नत बीज, रासायनिक खाद, समुचित पानी (पटवन), और तकनीकी दक्षता का अभाव है, वहाँ उपज तो पिछड़ेगी ही। अब मूल प्रश्न यह है कि इस पिछड़ती खेती को आगे कैसे बढ़ाया जाए?

देश की बढ़ती जनसंख्या क्या खाएगी, इसका विचार करना खेत के मालिक यानी किसान का ही दायित्व है। पर विडंबना यह है कि किसान अब भी खेत को केवल खतियान और दस्तावेजों तक सीमित समझता है..।

वह नहीं समझ पाता कि इन परिस्थितियों में उसे क्या करना चाहिए। और यह समझना भी क्योंकर संभव हो, जब हर प्रचार माध्यम, हर प्रवचनकर्ता, आज तक किसान की असली स्थिति को ढककर रखे हुए हैं?

जिस दिन समाज की सच्चाई को निहायत ईमानदारी से किसानों के बीच रखा जाएगा, तभी वह स्थिति बदलेगी। नहीं तो वही होगा जो छः सौ वर्ष पूर्व तुलसीदास ने 'विनय पत्रिका' में देखा था, 'खेती न किसान को..'

यदि किसान की खेती मर जाएगी, तो व्यापारी का व्यापार भी नहीं चलेगा। और जब व्यापारी ही भूखों मरेंगे, तो भिखारी को भी कौन भीख देगा? और जब भिखारी भी भूखा रह जाएगा, तो पार्वती जैसी देवी भला महादेव जैसे भिक्षुक के साथ कितने दिन तक रहेंगी?

प्रश्न केवल खेती का नहीं, सम्पूर्ण जीवन का है। आज का जो समय है, यदि हम उसके अनुसार स्वयं को नहीं ढालेंगे, समय के साथ कदम से कदम नहीं मिलाएंगे, तो बच्चे की तरह लड़खड़ाते हुए गिरते-पड़ते रहेंगे। लेकिन समय के साथ चलना भी कोई खेल नहीं है।

धरती पर सबसे श्रेष्ठ जीव मनुष्य है, फिर भी हम एक-दूसरे से करोड़ों कोस दूर खड़े हैं। जैसे एक विशाल जंगल में लाखों-करोड़ों प्रकार के वृक्ष, झाड़-झंखाड़ और ज़मीन से सटी हुई घासें होती हैं, वैसे ही मनुष्य समाज का भी एक वन है। एक ओर कोई अज्ञान की अंतिम सीमा पर जी रहा है, तो दूसरी ओर कोई चाँद पर आवास की योजना बना चुका है।

जैसे जंगल में छोटा-से-छोटा जीव से लेकर शेर, बाघ, हाथी तक के भोजन और आश्रय की व्यवस्था होती है, वैसा ही समाज में भी है। विचार और मार्ग की अनेक धाराएँ आदि काल से बहती आई हैं। पुरुष और स्त्री के संबंधों को धर्म की परिभाषा में बाँधनेवाले ही कभी-कभी उस धर्म को तोड़नेवाले भी बनते हैं, और उनकी देखादेखी से फिर नई-नई सोच और नए-नए रास्ते बनते हैं।

फिर भी, जैसे समुद्र में अमूल्य रत्नों के साथ-साथ घोंघे और सीपियाँ भी आनंद से रहती हैं, वैसे ही समाज में भी विभिन्न रूप के लोग हैं। लेकिन क्या इसका मतलब यह है कि सघन काँटोंवाले जंगल में चलनेवाले नहीं होते? अवश्य होते हैं, जो उस खरहोरि (झाड़ी) में, जहाँ एक इंच भी खाली जगह नहीं होती, हर सुबह दोनों हाथों से काँटों को हटाते हुए एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाते हैं।

आज की जीवन-यात्रा भी ठीक ऐसी ही कठिन और उलझनों से भरी हो गई है।

मूल प्रश्न यही है, क्या हम सीना तानकर आगे की ओर बढ़ें या पीठ दिखाकर पीछे खिसक जाएँ?

जब तक हम साहसपूर्वक सामने की ओर नहीं बढ़ेंगे, तब तक असीम शांति के वृक्ष के नीचे कैसे पहुँच सकेंगे? और यदि वहाँ तक पहुँचना ही नहीं है, तो व्यर्थ ही अनाज और जल को क्यों बर्बाद करें? जीवन की सफलता का प्रमाणपत्र केवल कठोर साधना से मिलता है, किसी शॉर्टकट या जुगाड़ से नहीं। जब तक हम असीम शांति तक नहीं पहुँचेंगे, तब तक जीवन की सफलता का सच्चा प्रमाणपत्र कैसे प्राप्त कर सकते हैं?

मेघाच्छन्न दिन था, फिर भी सूर्य ने देर से ही सही, बिस्तर छोड़ा। पर

क्या इससे आकाश में उड़ती चिड़ियाँ रुक गईं? नहीं।

गाँव में गोवर्धन पूजा का दिन था। ढोलकिया, देवताओं को जगाने के लिए, पूजा करवाने निकल पड़ा था। मन में उल्लास था, और हो भी क्यों न! खेती करनेवाले किसानों से लेकर गाय पालनेवाले पशुपालकों तक सभी को आज इस पर्व में भाग लेना था। आमदनी भी अच्छी थी, और मेहनत भी कम नहीं।

कोई करमी लत्ता (सांस्कृतिक प्रस्तुति की पोशाक) की तैयारी में जुटा था, तो कोई ठेका-गरदामी (नृत्य-दल) के इंतज़ाम में। कोई दुकान से रंग लाकर गरदामी की सजावट कर रहा था, तो कोई रंग-बिरंगे पत्तों और बेल-बूटों से साज-सज्जा में व्यस्त था।

स्त्रियाँ अपने-अपने समूह में मिलकर, उत्साहित होकर गोवर्धन महाराज की मूर्ति के साथ-साथ धान और मरुआ (अन्न) की कोठारी सजाने में लगी थीं। पर मन में एक चिंता भी थी, कहीं ढोलकिया पहले ही न पहुँच जाए! बेचारा सारा गाँव घूमेगा या केवल हमारे ही घर आकर रुक जाएगा?

कोई खेत में पुआल सजा रहा था, तो कोई आसपास के लोग मिलकर चाय-पान की व्यवस्था कर रहे थे। गाँव की रौनक, हलचल और श्रद्धा, सब कुछ मिलकर इस त्योहार को जीवंत बना रही थी।

वैसे भी, समय की आपाधापी में पड़कर कोई भोर में सूप नहीं बजाया। शायद कोई यह सोच रहा हो कि दरिदर (दरिद्रता का प्रतीक) कहीं निर्विरोध पूरे साल भर के लिए ही न ठहर जाए! परन्तु, वर्षों से तो सूप बजा-बजाकर उसे भगाने की परंपरा रही है, और फिर भी वह रह ही जाता है, जैसे परशुराम ने दर्जनों बार क्षत्रियों का सामूहिक संहार किया, फिर भी क्षत्रिय बचे ही रहे। तो क्या हो सकता है, दरिद्रता भी उतनी ही जिद्दी हो..?

बारिश और कीचड़ के बीच आयोजित काली-पूजा की जो दुर्गति हुई, वह तो यह साफ कर गई कि समाज के सामने कई नई समस्याएँ आकर खड़ी हो गई हैं। जैसे घर बनाते समय एक-एक चीज की व्यवस्थित योजना बनानी पड़ती है, वैसे ही अब समाज को भी संगठित ढंग से पुनः सोचना होगा।

मंगल ने साइकिल उठाई और काली-पूजा समिति की बैठक के लिए समिति के सदस्यों से मिलने निकल पड़ा। सबसे पहले वह देवनाथ के घर पहुँचा। दरवाजे पर किसी के न दिखने पर वह ज़ोर से पुकारने लगा- “देवनाथ जी! अरे देवनाथ जी..!”

लेकिन कौवों की काँव-काँव और हवा की सरसराहट के बीच कोई जवाब नहीं आया। उसने फिर पुकारा- “देवनाथ जी! अरे, देवनाथ जी कहाँ हैं?”

आवाज़ सुनकर देवनाथ की पत्नी आँगन से बाहर आई और बोली- “कल आधी रात से ही घर से निकले हुए हैं, अब तक लौटे नहीं हैं। काली स्थान पर ही होंगे।”

काली स्थान का नाम सुनकर मंगल चौंक गया। बोला- “बैठक तो काली स्थान पर ही है, उसी के लिए तो आया हूँ। अगर वहीं होंगे तो मिल ही जाएँगे, नहीं तो घर आएँगे तो कह दीजिएगा।”

यह कहकर मंगल वहाँ से निकल जोगिन्दर के घर गया, लेकिन वहाँ भी कुछ पता नहीं चला। बीस सदस्यों के घरों का चक्कर लगाकर जब थक गया, तो वापस घर आकर साइकिल रखी और खुद काली स्थान की ओर निकल पड़ा।

एकाएक ग्यारह लोग काली स्थान पर पहुँच गए। बातचीत का सिलसिला शुरू हुआ। जीबछ ने मंगल से पूछा- “सिंहेसर भैया क्यों नहीं आए?”

जीबछ के प्रश्न पर मंगल ने जवाब दिया- “वो तो घर पर ही नहीं थे। जब लौटने लगा तो उनकी माँ मिलीं। पूछने पर उन्होंने बताया, ‘आधी रात को ही सिंहेसर दुखा काका को डॉक्टर के पास लेकर गए हैं।’”

“अरे! क्या हुआ दुखा काका को?”

“उनकी माँ ने बताया कि वो भी मेला देखने गए थे। जब बारिश और कीचड़ फैला तो घर लौटते वक्त रास्ते में एक गड्ढे में पैर फिसल गया, और वो गिर पड़े। उनका घुटना टूट गया है।”

‘घुटना टूट गया’, यह सुनकर जीबछ अफसोस में डूब गए। करुणा से भरकर बोले- “बाप रे! ये तो बड़ा अन्याय हो गया। उस बेचारे का कोई बेटा भी

नहीं है, और बेटी भी ससुराल में रहती है। पत्नी भी गंभीर बीमारी से ग्रस्त है। हे भगवान! तू भी कितना अन्यायी है! जिसे तू दुःख देता है, उसे मुरदे की तरह एक-एक चीर में पीड़ा भर देता है। मुझे तो खबर ही नहीं थी, वरना इलाज का खर्च मैं ही दे देता। अच्छा किया सिंहेसर ने! ऐसे समय जो बेटा समाज के सामने खड़ा होता है, वही सच्चे अर्थों में भारत माता का सपूत कहलाता है, वह भी प्रथम श्रेणी का।"

मंगल ने भी सहमति में सिर हिलाते हुए कहा- "जीबछ भैया, हम भी बहुत ज़्यादा पढ़े-लिखे नहीं हैं, क्योंकि स्कूल-कॉलेज में तो लोग परीक्षा पास करने के लिए पढ़ते हैं, लेकिन जीवन का असली पाठ तो व्यावहारिक दुनिया में उतरने के बाद ही पढ़ा जाता है। जो काम सिंहेश्वर भैया ने किया, वह आज के समाज की सच्ची ज़रूरत है। परंतु ऐसे-ऐसे काम करनेवाले बेटे सदा से इस धरती पर जन्म लेते आए हैं। समाज की असली सेवा में ऐसे कार्यों को ही रखा गया है, जो सेवा आदि काल से चंदन के वृक्ष की तरह जन्म लेकर समय के साथ फूलती-फलती रही है, वही ठहर कर, स्थिर होकर, मौन रहकर फल देती रही है। वह सुख में नहीं, उस गति में सुखी रही है जो कुछ दिन बाद कोकून बनकर तितली की तरह उड़ जाती है।"

मंगल की बातों को जीबछ ध्यानपूर्वक, मन एकाग्र कर, कान खोलकर और आँखें चौड़ी करके सुन रहे थे, मानो हर शब्द उनके हृदय की तहों में उतर रहा हो। जैसे अच्छा भोजन मुँह में जाते ही स्वाद देता है, वैसे ही मंगल के विचार उनके कानों से होते हुए मन को हँसा भी रहे थे और आत्मा को गुदगुदा भी रहे थे; आँखें भी विवेक के प्रकाश से भर उठीं।

जीबछ भाव-विह्वल होकर बोले- "भाई में कोई दादा होता है! बच्चा, उम्र में भले तुमसे बड़ा हूँ, लेकिन हो गया हूँ बबूल का पेड़, जन्म लेते ही काँटों और झाड़ियों में उलझ गया। मेरी जिंदगी गिनती के हिसाब से कुछ बनी-बनाई नहीं रही। लेकिन अब तय कर लिया है कि जीवन को समाज के एक मजबूत खंभे की तरह बिताऊँगा। जिस स्थान को भगवान ने झकझोर कर ज़मीन से जोड़ दिया, अब उसी स्थान पर बैठा हूँ। हम सबके पुराने राजा कैसे थे, जानते हो?"

मंगल तुरंत बोला-

"वे ऐसे राजा थे जो हर व्यक्ति के जीवन में प्रत्यक्ष उपस्थित रहते थे। उनके पास इतने सिपाही थे कि समय की गति के अनुसार कोई भी व्यक्ति न आगे हो पाता, न पीछे, और उनकी निगाहें हमेशा सब पर गड़ी रहती थीं।"

"उनकी फुलवारी कैसी थी?"

"उनकी फुलवारी जैसी कोई और राजा दुनिया में नहीं सजा सका। हालांकि कुछ राजाओं ने ज़रूर अपने धन, बल और जनबल से प्रयास किए।"

"फुलवारी में कौन-कौन से पेड़ थे?"

"फुलवारी के बीचों-बीच विवेक का पेड़ था। उसके बगल में मन और बुद्धि के वृक्ष थे। और उनके किनारे-किनारे सेवा का पेड़ था, जो सदा हरियाली की निगरानी करता रहता था।"

मंगल की यह बात सुनकर भुवन बोले- "मंगल, कल तक हम समाज के जिन कामों में लगे थे, वे चाहे अच्छे हों या बुरे, अब पूरे हो चुके। अब सबसे पहले इस गाँव की बर्बादी को देखना होगा। जब भी कोई झंझावात आता है, तो वह किसी न किसी को जरूर झकझोर कर रख देता है। क्या तुमने सतन को नहीं देखा?"

"उसका जामुन का पेड़ सड़क के किनारे था, वहीं गिर पड़ा है। अब रास्ता बंद हो गया है, उसे काटने-छांटने गया है।"

"निरधन क्यों नहीं आया?"

"उसे तो और भी बड़ी मुसीबत आ पड़ी है। उसके पास चार कट्ठा खेत है, जिसमें उसने काफी धान बोया था। खेत गहराई वाला है, सारा धान जलमग्न हो गया। काली पूजा के कारण धान खेत में ही रह गया, कट नहीं सका। एक तो वह बौना धान, ऊपर से आसपास के खेतों का सारा पानी उसके खेत में उतर गया। निपजता हुआ धान सड़ गया। पानी बहाने का रास्ता भी नहीं है। और वैसे भी, अगहनी धान तो थोड़ा मजबूत होता है, पर गरमा धान तो गरमी में ही मर जाता है।"

"झोलिया क्यों नहीं आया?"

"उसका एकमात्र घर भी गिर पड़ा। घर का सब कुछ भीग गया है। अब वही सम्हालने में लगा है।"

तभी सभी एक स्वर में बोले- "जितने लोग आए हैं, उन्हीं से विचार कर लेते हैं। जो नहीं आ पाए हैं, उनसे हम जाकर विचार-विमर्श कर लेंगे।"

साठ का दशक था। किसानों के बीच ज़मीन और अस्तित्व को लेकर जबरदस्त हलचल मच चुकी थी। जैसे अनुकूल वातावरण बनने पर भारी बारिश, भूकंप और आँधी-तूफान आते हैं, वैसी ही उथल-पुथल अब गाँव के खेतों के बीच उठने लगी थी।

एक ओर आज़ादी के दीवाने गाँव-गाँव में जन्म लेकर अंग्रेजों को भगाने में जुटे हुए थे, तो दूसरी ओर समाज सेवा के लिए भी लोग आगे आ रहे थे। देशभक्त सिपाही पर्याप्त संख्या में देश के भीतर तैनात हो गए थे।

अंग्रेज़ों को खदेड़नेवाले लोग बड़े-बड़े वटवृक्ष की तरह खड़े थे, तो फिर क्यों न छोटे-बड़े और पेड़ लगें? दुनिया का हर जीव-जन्तु सुखपूर्वक जीना चाहता है, फिर मनुष्य तो मनुष्य है, सबसे ऊपर। क्या वह नहीं जानता कि शांति और संतोष प्राप्त करके कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक पुरुष बन सकता है? कौन नहीं चाहता कि उसकी मातृभूमि स्वर्ग से भी सुंदर हो?

एक ओर ज़मीन अब प्रतिष्ठा का मूल आधार बन चुकी थी, तो दूसरी ओर राजाओं-रजवाड़ों के अंत के साथ मालगुजारी का शासन भी खत्म हो गया। राजशाही के जाते ही ज़मीनें रसीदों के आधार पर औना-पौना दाम में बिकने लगीं। बकास्त (खाली पड़ी) ज़मीन को लेकर गाँव-गाँव में लड़ाइयाँ शुरू हो गईं।

एक विशाल भूमि पर बटाईदारी आंदोलन जोर पकड़ने लगा- "जो ज़मीन जोते-कोड़े, वही ज़मीन का मालिक है" यह नारा आसमान में गूंजने लगा। धरती, जो जीवन देनेवाली है, अब बलिदान की मांग कर रही थी, और वह बलिदान दिया गया।

सिकमी (बटाईदारों के) अधिकारों पर आधारित कानून बना और लागू

भी हुआ। जहाँ बटेदार जागरूक और तैयार थे, उन्हें अधिकार मिल गए। जहाँ नहीं थे, वहाँ यह अधिकार आज भी अधर में लटका हुआ है।

यह सिर्फ भूमि का नहीं, पूरे समाज के पुनर्गठन का प्रश्न बन चुका था, जहाँ खेत की मेड़ से लेकर अधिकारों की सीमा तक सब कुछ पुनः परिभाषित हो रहा था।

गाँवों की आम जमीनों पर 'दसनामा' जैसे संस्थानों की स्थापना होने लगी। स्कूल, अस्पताल जैसी बुनियादी संरचनाएँ खड़ी होने लगीं। जनमानस की दृष्टि अब मनुष्य की मूल समस्याओं की ओर मुड़ने लगी, जिससे त्याग और सेवा-भावना का जन्म हुआ। लोअर प्राइमरी स्कूलों से लेकर मिडिल और हाई स्कूलों तक की स्थापना होने लगी। कुछ जगहों पर कॉलेज भी बन गए। सरकार का ध्यान भी शिक्षा की ओर गया, जिससे पढ़ाई-लिखाई का वातावरण धीरे-धीरे बनता चला गया।

इसी समय भूदान आंदोलन की भी शुरुआत हुई। लोग दान को धर्म समझकर अपनी जमीनें दान देने लगे। गाँव-गाँव में भूदान समितियाँ गठित हुईं। जिन गाँवों में ये समितियाँ सक्रिय रूप से कार्यरत रहीं, वहाँ की ज़मीनें भूमिहीनों तक पहुँचीं; लेकिन जहाँ समिति निष्क्रिय रही, वहाँ यह आंदोलन संघर्ष और टकराव का अखाड़ा बनकर रह गया।

भूदान आंदोलन का उद्देश्य था- "देश की छठी हिस्सेदारी की ज़मीन भूमिहीनों को मिले।" लेकिन विडंबना यह है कि आज तक सरकार चार डिसमिल ज़मीन तक बास-भूमि के रूप में देने की स्थिति में नहीं है।

गाँवों में जब जमींदारों की ज़मीन बँटी, और जो लोग उसी गाँव में रहकर खेती करते थे, उन्हें यह एक स्वर्ण अवसर के रूप में मिला। ज़मीन का स्वरूप भी बदला, जो कभी प्रतिष्ठा की वस्तु मानी जाती थी, वह अब मुद्रा (रुपए) में तब्दील हो गई। बैंक के ब्याज की दरों से अब ज़मीन की उपज का मूल्य आँका जाने लगा। पहले जिस बँटाई प्रथा में आधा उपज का बँटवारा होता था, वह भी ढीली पड़ गई। उसके स्थान पर मनखप, पट्टा, मनहुंडा आदि जैसी व्यवस्थाएँ जन्म लेने लगीं। अब प्रति कट्ठा 15 किलो धान और 10 से 15 किलो गेहूँ की

उपज के आधार पर बँटवारा होने लगा।

कोसी परियोजना की नहरों और नई-नई सड़कों के निर्माण से गाँवों के चौक-चौराहों का विकास हुआ और किसानों के लिए कार्य के अवसर भी बढ़े। ज़मीन अधिग्रहण के बदले मिला मुआवज़ा भी एक सहयोगी साधन बना। शिक्षा मित्र की बहाली के साथ-साथ एनएचडब्ल्यू (राष्ट्रीय राजमार्ग) ने भी कुछ सहायता दी। सड़कों के बनने से परिवहन व्यवस्था सशक्त हुई और गाड़ी-घोड़ा चलाने का व्यवसाय भी उभर आया।

मिथिलांचल में एक नए सामाजिक वर्ग का जन्म हुआ, किसान वर्ग। लेकिन यह वर्ग अभी बिखरा हुआ है। हरित क्रांति आई, ज़मीनों का भाग्य भी बदला, पर जितना बदलना चाहिए था, उतना नहीं हुआ। यदि वास्तव में खेतों की समृद्धि होती, तो जिस मिथिला को एक समय पूरी दुनिया का गुरु माना जाता था, वह फिर उसी गौरव को प्राप्त कर लेती। इसमें अब भी कहीं-न-कहीं कमी है।

आज भी भारत में कम ही क्षेत्र हैं जहाँ मिथिलांचल के लोग, इंजीनियर, डॉक्टर, वैज्ञानिक, साहित्यकार, बड़ी संख्या में मौजूद हैं। दुर्भाग्य यह है कि ये सभी प्रतिभाशाली लोग मिथिला को छोड़कर दुनियाभर में बिखरे हुए हैं। कारण यह नहीं कि वे स्वयं चाहते हैं, बल्कि यह विवशता है, क्योंकि न तो यहाँ कोई कल-कारखाना है जहाँ इंजीनियर काम कर सकें, न समुचित स्वास्थ्य सेवा प्रणाली है जहाँ डॉक्टरों को जगह मिले, न कोई वैज्ञानिक शोध संस्था है जहाँ वैज्ञानिक अपनी प्रतिभा दिखा सकें, और न ही ऐसा सशक्त शैक्षणिक आधार है जहाँ साहित्यकार अपनी कल्पना और अभिव्यक्ति को सँवार सकें।

मिथिला प्रतिभा की धरती है, परंतु मंचहीनता की पीड़ा अब तक झेल रही है।

गंगा-ब्रह्मपुत्र मैदानी क्षेत्र में स्थित मिथिलांचल अनेक नदियों से आच्छादित है। यहाँ की नदियाँ भी ऐसी हैं जो समय-समय पर उपद्रव करती रहती हैं और पूरे इलाक़े का स्वरूप बिगाड़ती रहती हैं। लोगों का जीवन इतना अस्थिर और कठिन हो गया है कि जो लोग आज भी मिथिलांचल में टिके हुए हैं,

वे सचमुच धन्यवाद और प्रशंसा के पात्र हैं।

किसान वर्ग के उभार के साथ जातिवाद की बेड़ियाँ कुछ ढीली पड़ी हैं। कई ऐसे परंपरागत व्यवसाय, जैसे खेती से लेकर लघु उद्योग तक, जो कभी विशिष्ट जातियों के अधीन समझे जाते थे, अब जातिगत सीमाओं से बाहर निकल चुके हैं। अब कोई भी किसी भी व्यवसाय से जुड़ सकता है। परंतु यह भी उतना ही सत्य है कि जैसे कोसी के बाढ़ग्रस्त क्षेत्र समय के साथ फिर से जागकर नये स्वरूप में बसते हैं और लोग वहाँ दोबारा गांव बसाते हैं, ठीक वैसी ही आवश्यकता सामाजिक चेतना और पुनर्निर्माण की भी है।

जातिगत पेशों का टूटना सामाजिक व्यवस्था को लचीला तो बना रहा है, परंतु राजनीतिक कुचक्र समाज के समक्ष नई-नई समस्याएँ खड़ी कर विकास में बाधा उत्पन्न कर रहा है। तरह-तरह की नई बाधाएँ समाज में उपज रही हैं।

परंतु क्या इसका यह अर्थ है कि मिथिला मरूभूमि बन गई है? कि उसने कर्मयोगियों को जन्म देना बंद कर दिया है?, हरगिज नहीं।

भले ही यह संगठित रूप में न हो, लेकिन छिटपुट रूप में ऐसे किसान आज भी हैं जो लाखों आपदाओं और प्राकृतिक आपत्तियों से जूझते हुए सोनार स्तंभ की तरह चमकते रहे हैं। भले ही उनका क्षेत्र विशेष रूप से निर्धारित न हो सके, क्योंकि यह एक सीमा-विहीन परिश्रम है, पर इसे नकारा भी नहीं जा सकता कि आज मिथिला की धरती पर उतना धान उपज रहा है कि वह जापान से मुकाबला करने के लिए तैयार है। ठीक वैसे ही गेहूँ, दाल, और फलों की उपज भी उल्लेखनीय है।

आज भी हजारों ट्रक आम यहाँ से अन्य राज्यों को भेजे जाते हैं। एक इलाके की सब्ज़ी दूसरे क्षेत्र में पहुँचती है। मसाले हजारों ट्रकों से अन्य राज्यों में जाते हैं। एक क्षेत्र का दूध दूसरे-तीसरे क्षेत्रों में बिक रहा है।

अब तक जो सामाजिक बैठकें अनौपचारिक रूप में हुआ करती थीं, उन्हें अब प्रोफेसर दया बाबू और पूर्व प्रोफेसर कमल बाबू के नेतृत्व में औपचारिक स्वरूप दिया जाने लगा है।

काली स्थान पर पहुँचते ही कमल बाबू ने कहा- “आज के समाज और

गाँव-गाँव के इतिहास की स्मृतियाँ लुप्त होती जा रही हैं। सबसे पहले उस इतिहास को सँभालना ज़रूरी है। इसलिए आवश्यक है कि एक रजिस्टर ख़रीदकर सभी गतिविधियों और जानकारियों को लिखित रूप में दर्ज किया जाए।”

यह बात मिथिला के सामाजिक नवजागरण और दस्तावेज़ीकरण की उस सोच को जन्म दे रही थी, जहाँ परंपरा और परिवर्तन दोनों एक साथ यात्रा प्रारंभ कर रहे थे।

कमल बाबू की बात सुनकर मंगल मन ही मन सोचने लगे- ‘रजिस्टर अभी कहां से लाऊँ? बेहतर होगा कि फिलहाल आज की बैठक के कागज़ के पिछले पन्ने पर ही लिख दूँ। बाद में जाकर रजिस्टर ले आऊँगा और उसमें सब दर्ज कर लूँगा।’

मंगल के मन में एक चिंता लगातार गूंज रही थी- “दया बाबू और कमल बाबू दोनों ज़्यादा देर तक नहीं ठहरते, अगर ज़ोर भी देंगे, तो पलटकर कह देंगे, ‘गांव-समाज आपका है, जैसे चाहें, वैसे चलाइए।’ लेकिन गांव के लोग ऐसे हैं कि धर्म का काम स्कूल और मां-बाप की सेवा को मानते हैं, और खुद पूरा दिन झूठ-फरेब की बातें करके समाज को भीतर से खोखला करते रहते हैं। समाज अब न्याय का मंच नहीं, अन्याय का अखाड़ा बन चुका है।”

"ऐसे में केवल 'सामाजिक न्याय' का नारा देने से क्या समाज सुधर जाएगा?"

यह सोचते हुए मंगल मुस्कराकर दया बाबू से बोले- “श्रीमान! आप तो हमें चार साल तक पढ़ाए हैं, इसलिए आपको अधिकार है कि जो बात नहीं समझ में आए, वो आज भी पूछ सकते हैं। लेकिन बाबूजी (कमल बाबू) से कुछ पूछने का हमें कोई हक नहीं, भले ही वे हमारे हर मनोभाव का उत्तर देने में समर्थ क्यों न हों।”

मंगल के दिल की बात जैसे कमल बाबू पहले से ही समझ रहे हों। उन्होंने धीरे-धीरे बड़बड़ाते हुए कहा- “रात की घटना ने ऐसा असर किया है कि मानो हृदय पत्थर पर गिरकर चकनाचूर हो गया हो..।”

उन्होंने आँसुओं को पोंछते हुए कहा- “लेकिन दोष किसे दिया जाए? कुछ दोष आप लोगों का भी है, जो मैं बाद में कहूँगा। अभी केवल इतना कहूँगा कि कालचक्र को रोकना आसान नहीं होता। यह सब काल की चाल थी। इसलिए अब इसका प्रायश्चित करना ज़रूरी है। (आइए, सभी दो मिनट के लिए खड़े हो जाएँ और दिवंगत आत्मा की स्मृति में शोक प्रकट करें।) रजिस्टर की पहली पंक्ति में शोक प्रस्ताव लिखकर कार्य को आगे बढ़ाइए।”

शोक व्यक्त करने के वाद सभी कार्यक्रम स्थगित हो जाते हैं।

शोक व्यक्त कर पुनः बैठक शुरू होते ही कमल बाबू ने पूछा- “समिति में कितने सदस्य नियुक्त किए गए थे?”

“इक्कीस सदस्य,” - मंगल ने उत्तर दिया।

कमल बाबू ने फिर पूछा- “क्या ये सभी एक ही प्रकार की जिम्मेदारी वाले हैं?”

“हाँ, सभी समान हैं।”

“तो अभी कितने सदस्य उपस्थित हैं?”

“ग्यारह सदस्य।”

“और बाकी?”

“दो सदस्य तो ग़ायब ही हो गए हैं। ग्यारह यहाँ उपस्थित हैं, जबकि आठ सदस्य दूसरी-दूसरी ज़रूरी कामों में व्यस्त हैं।”

यह संवाद सिर्फ़ गणना नहीं था, यह संकेत था उस सामाजिक यथार्थ का, जहाँ जिम्मेदारी से अधिक विवेक, और सहभागिता से अधिक समर्पण की आवश्यकता है। कमल बाबू जानते थे कि समिति की मजबूती संख्याओं में नहीं, उसके सक्रिय और सजग सदस्यों की नीयत में होती है।

“हूँ, रात की झंझावात तो सबको झकझोर ही गया होगा।”

कहते-कहते एकाएक कुछ सोचते हुए कमल बाबू फिर बोले- “बाबा मंगल और छोटे भाई दया बाबू, जैसे मैं खुशीपूर्वक जीवन जी रहा हूँ, वैसे ही चाहता हूँ कि आप दोनों भी बेहतर जीवन जिएँ, और आनेवाली पीढ़ियों के लिए

उससे भी सुंदर जीवन की राह बना दें।”

कमल बाबू अभी बोल ही रहे थे कि नेंगरा और बौका एक साथ बोल उठे-

“जैसे दया कक्का पढ़े-लिखे हैं और मंगल कक्का कॉलेज की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए पढ़ाई की कोठरी तक पहुँच गए, वैसे हम तो जिंदगी भर कुदाल-कलास में ही पढ़ाई करते रहे, इसलिए..।”

इस पर कमल बाबू ज़ोर का ठहाका मारते हुए उठ खड़े हुए और समिति को संबोधित करते हुए बोले- “नेंगरा और बौका को मेरी बधाई! क्योंकि इन्होंने अपनी सीमा को पहचाना। बाबा नेंगर और बौका, बधाई इसलिए नहीं कि तुमने कुछ छोटा किया, बल्कि इसलिए कि तुमने समाज की एक बहुत बड़ी समस्या की जड़ को छू लिया।

हमारे समाज की सबसे बड़ी दिक्कत यही है कि कोई भी अपनी सीमा और मर्यादा को समझना ही नहीं चाहता। और जब व्यक्ति को अपनी सीमाओं का बोध नहीं होता, तब वह समय के साथ ऐसे बहता है जैसे धार में बहती रेत, जिसे न दिशा पता होती है, न गहराई।

रेत की सतह पर अगर कोई अपने शरीर से खड़ा हो तो खुद को भी डूबने का भय बना रहता है, और यदि उसके सिर पर दस-बीस सेर का बोझ भी हो, तो उसकी स्थिति और भी भयावह हो जाती है।

इसलिए जब किसी ऊँची इमारत का निर्माण होता है, तो सबसे पहले ईंट की गुणवत्ता देखी जाती है। अगर यह ध्यान न दिया जाए, तो अंत में निर्माण स्थल पर सब लट्टू की तरह चक्कर काटते रहेंगे, पर भवन कभी नहीं बन पाएगा।”

कमल बाबू बोलते जा रहे थे और उसी समय नेंगरा और बौका एक-दूसरे की ओर देख हँसने लगे। उनके इस निश्छल हास्य ने सभा का माहौल हल्का कर दिया। किसी की दृष्टि गंभीर हो गई, तो कोई मुस्कराता हुआ चेहरे के भावों को समझने की कोशिश करने लगा। मगर दोनों की हँसी सबको हँसा गई।

मंगल और दया बाबू की ओर नज़र गई, जिनके चेहरे गंभीर थे। कमल बाबू ने तुरंत बात संभाली और बोले- “रात की घटना दुखद रही। लेकिन वह तो

बीते दिन की बात है। समय की तीन धाराएँ होती हैं, बीता हुआ, वर्तमान और आने वाला। जो समय बीत गया है, वही समय हमें वर्तमान और भविष्य का रास्ता दिखाता है।

एक तरह से रात की घटना ने आप सभी को एक सीमा रेखा पर लाकर खड़ा कर दिया है। अब इसको गहराई से समझने की जरूरत है।"

कमल बाबू की बातों में केवल भाषण नहीं था, उसमें पीड़ा, आत्मबोध, सामाजिक समीक्षा और भविष्य की दिशाएँ शामिल थीं। मिथिला की माटी में जन्मे नेंगरा-बौका और प्रोफेसर दया-मंगल के बीच जो संवाद बना, वह केवल पीढ़ियों का नहीं, बल्कि विवेक और समर्पण का आदान-प्रदान बन गया, जिसमें शिवलिंग-सा संयम और हुगली नदी-सी दोहरी गति समाहित थी।

मंगल ने आँखें उठाकर पूछा- "ज़रा स्पष्ट करके कहिए।"

उत्तर मिला- "देखिए, हमारे समाज में अनेक पर्व-त्योहार होते हैं, कुछ शुभ होते हैं, कुछ अप्रिय अनुभव भी छोड़ जाते हैं। परंतु परंपरा यही रही है कि हम शुभ पक्ष को ही थामे चलते हैं। कोई एक रात किसी धार्मिक कार्य में विघ्न पड़ा हो, इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि हम उस पर्व को ही त्याग दें।

हमने अपने परिवारों में भी देखा है कि कई बार उत्सव की तैयारी के बीच अचानक कोई दुखद घटना घट जाती है, जिससे पूजा-पाठ और भोजन-भोज की प्रक्रिया बाधित हो जाती है। परंतु प्रश्न यह है, हम क्या देखते हैं?

..हम यही देखते हैं कि लोग पर्व-त्योहार को स्थगित कर, पूरी संवेदनशीलता के साथ उस घटना में सहभागी बन जाते हैं। तो क्यों न हम भी इस पारिवारिक पर्व को एक सामाजिक दायित्व समझकर शोक को थोड़ा हल्का करें?

ऐसे-ऐसे सामाजिक आयोजन, जैसे कालीपूजा, दुर्गापूजा आदि, हर गाँव में हों, यह ज़रूरी नहीं। कहीं होते हैं, कहीं नहीं। ये किसी समाज या गाँव के लिए बाध्यकारी नहीं होते। ये तो मन की शांति और श्रद्धा के लिए होते हैं।

..और अभी आप सब एक ऐसे मोड़ पर खड़े हैं, जहाँ से दो राहें निकलती हैं। पहला प्रश्न है, क्या अगला वर्ष भी यह आयोजन होगा या नहीं? यह निर्णय समाज की सामूहिक सोच को देखकर ही लिया जा सकता है।

आज स्थिति यह है कि समाज इस प्रश्न पर दो भागों में बँटा हुआ है। अधिकांश लोगों के मन में यह बात घर कर गई है कि चूँकि इस वर्ष पूजा नहीं हुई, तो आगे भी नहीं होनी चाहिए। लेकिन कुछ लोग ऐसे भी हैं जो चाहेंगे कि पूजा फिर से हो।

प्रश्न उठता है, यदि आने वाला वर्ष भी इसी अनिश्चितता में गुजर गया, तो क्या होगा? और तब यह भी विचार होगा कि पूजा यदि केवल रस्मअदायगी बन जाए, संकल्पशील न रह जाए, तो उसका मूल उद्देश्य ही खो जाएगा।"

..असल में, यहाँ दो तरह के विचार सामने आते हैं, पहला, समाज का सामूहिक संकल्प, और दूसरा, पूजा की प्रक्रिया आरंभ करते समय लिया गया व्यक्तिगत संकल्प, जो कि इस बार नहीं हो सका। यही कारण है कि यह प्रश्न अब विचार का विषय बन गया है।

फिर प्रश्न उठता है कि व्यक्तिगत रूप से तो हर घर में, मन ही मन, पूजा होती ही है। सामूहिक स्तर पर भी उसका होना आवश्यक है, लेकिन यह किस रूप में हो, यह सोचने की बात है। अब तक जिस प्रकार यह आयोजन एक सार्वजनिक मेले के रूप में होता आया है, उसकी प्रासंगिकता वर्तमान समय में कितनी है, इस पर भी विचार किया जाना चाहिए।

मैंने पहले ही कहा कि गाँव का इतिहास लिखा जाएगा, यह इतिहास अभी तक कभी राजाओं के मदिरा और विलासिता से जुड़ा रहा, कभी खेत-खलिहान और कभी मनोरंजन तक सीमित रहा। एक राजा-रानी गद्दी पर विराजते थे, और शेष जनता सीढ़ियों पर खड़ी रहकर एक-दूसरे को आगे बढ़ने से रोकती और कभी-कभी पीछे भी धकेलती, यही हमारा अब तक का इतिहास रहा है।

..इसलिए, अगर हम चाहते हैं कि हमारा समाज एक बेहतर दिशा में आगे बढ़े, तो यह जिम्मेदारी आप सभी की है। लेकिन जिस समाज को हम समाज कहते हैं, वह कोई संवेदनशील मानवीय समुदाय नहीं है, बल्कि पुराने बोझ की

तरह है, जैसे पुरानी गठरी से घर तो बांधा जा सकता है, पर जब वह अपने ही वजन से धोखा करने लगे, तो उसके छिपे भेद वही जानते हैं जो उसे बांधते हैं।

ठीक यही स्थिति लोगों की है, एक ओर कुछ को संवारो, तो दूसरी ओर कुछ बिखर जाते हैं; दूसरी ओर समेटो, तो तीसरी दिशा में फिर बिखराव शुरू हो जाता है। इसमें उन बेचारे विचारों का दोष नहीं है, किसी को पेट की चिंता सताती है, तो किसी को 'मालिकाना' की लालसा। और मालिकाना कैसी? जैसे हम खुद को विधाता समझने लगें और दूसरों को आदेश दें- "तुम्हें मानना ही पड़ेगा!" वाह रे भैया!

विधाता बनने से पहले तो अपना रजिस्टर सार्वजनिक करो, ताकि मैं भी समाज के इतिहास में लिख सकूं, कौन लोग हवाई जहाज से चलते हैं, कौन लोग ए.सी. कार से और किन-किन को चरणबाबू की टेक्सी ही मिलती है।

..तो जैसे किसी गाँव की बसावट की शुरुआत में सिर्फ दो-चार परिवार ही आए थे और आज वह गाँव कितना फैला-फूला हुआ है, उसी तरह अकेले की चिंता किए बिना आगे की ओर बढ़ो..। बीच में बौकू बोल पड़ा- "बाबा, सुबह जो लड़के मछली पकड़ने के लिए बाँध की ओर गए थे, ज़रा देख तो लीजिए कि कहीं वे खुद ही मछली के पीछे डूब तो नहीं गए?"

बौकू की बात सुनकर बाबा ज़ोर से हँसे और बोले- "बौकू, जीवन में सबसे बड़ा सुख प्राप्त करना ही असली साधना है। जिसे यह सुख मिल गया, उसे मानो भगवान मिल गए। लेकिन 'सुख' किसे कहते हैं, यह अभी मत पूछो, तुम्हारी भी बड़ी हड़बड़ी है। ऐसे समय में तुम्हें रोकना उचित नहीं लगता। पर इतना समझ लो कि जब दु:ख दूर होता है, तभी सुख का आगमन होता है।"

आँखें उठाते हुए दयानंद मुस्कराए और बोले- "भैया साहेब, इतिहास लिखने की बात तो आपने कह दी, लेकिन क्या पिछला इतिहास खुद आपने समझा भी है या नहीं, यह तो नहीं बताया?"

"दयाबाबू, 'हरि अनंत, हरि कथा अनंता।' अभी जिस समय में हम सब बैठे हैं, यह बैठने का नहीं, बल्कि करने का समय है। न जाने कितनों के घर उजड़ गए होंगे, कितनों की संपत्ति नष्ट हो गई होगी, कितनों के हाथ-पाँव टूट गए होंगे,

ऐसे समय में हाथ पर हाथ रखे बैठने का अवसर नहीं है। जहाँ भी सही रास्ता दिखे, वहीं चलकर इस बिखरे हुए गाँव को फिर से संबल दो, सभी तो हमारे ही पड़ोसी हैं। समय भी बदलेगा। समुद्र से उठे बादल भी धीरे-धीरे अपने रूप बदलते हैं।

..इसलिए अंत में बस यही कहना है, आशा के साथ जीवन को आगे धकेलो, उसे पर्वत की चोटी पर चढ़ा दो, और फिर खुले आकाश में फेंक दो, जहाँ वह उड़कर अपना सही स्थान स्वयं पा ले।”

❑❑❑
❑❑
❑

Notes

....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....